2913

॥ श्रीः ॥

कामन्दकीयनीतिसारः ।

भाषाटीकासहितः ।

BOMBAY.

...राज श्रीकृष्णदास,

...वेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस,

बंबई.

संवत् १९६१, शके १८२६,

सर्वाधिकार "श्रीवेङ्कटेश्वर" प्रेसाध्यक्षने स्वाधीन रक्खाहै ।

015,1M1S,1
C5

015,1MIS,L 2913
C5
Mishra, Jwalaprasad
Kamandikiya
nitisar.

,1MIS,1
C5

2913

AGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

ease return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

12/4/21

015,1M9,1
C5

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc No. ~~2913~~ ~~113~~
2913

भूमिका ।

संसारकी अपनी मर्यादामें स्थिति राजशासनके अधीन है, वह शासन जिन नियमोंके अनुसार होता है उसको राजनीति कहते हैं, उस नीतिके अनुसार वर्तनेसे राजाको इस लोकमें यश और परलोकमें आनन्द प्राप्त होता है, यद्यपि भारतवर्षकी पुरातन राजनीतिके पूरे ग्रन्थ इस समय सर्वथा अप्राप्य होगये, पर तोभी जो कुछ मिलते हैं उनमें बहुत कुछ भरा पडा है, उनमेंसे हम आज एक ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसारका अनुवाद करके दिखलाना चाहते हैं कि नीतिसार होनेपर भी इसके समस्त विषय महाराजोंके परम उपयोगी हैं, यदि महीपालगण ऐसे ग्रन्थोंका अपने राजकुमारोंको अभ्यास करावें, तो वह प्रजापालन कोषवृद्धि सदाचरणमें तथा धर्मप्रचारमें बहुत कुछ वृद्धि करसकते हैं, इस अवसरमें हम महामहिम गुणिजनमण्डलीमण्डन गढवाल टिहरीनरेश महाराजाधिराज श्री १०८ श्रीकीर्तिसाहजी बहादुर के. सी. एस. आई. महोदयको अनेक धन्यवाद करते हैं कि, जो ऐसे पुरातन ग्रन्थोंके अनुशीलनपूर्वक पुरातन राजनीतिग्रन्थोंका आदर करते हुए धर्मसे प्रजापालन करते हैं, यदि इसी प्रकार अन्य महीपति इस ओर दत्तचित हों तो देशकी पुरातन राजनीतिके ग्रन्थ फिर जगमगा उठें, और राजा प्रजामें धर्मकी वृद्धि दिनोंदिन होती रहै.

इस ग्रन्थमें राजनीति सम्बन्धी प्रायः समस्तही विषयोंपर विचार किया गया है जिनमें यह भलीभाँति प्रगट होजाता है कि, राजोंके कृत्य क्या हैं इसमें राजकुमारोंके कर्तव्य, राजा प्रजाका सम्बन्ध, सेना, व्यूह, राजकर्मचारी, दुर्गादिनिर्माण, पर्यटन सभाप्रवेश आदि अनेक विषय बड़ी गवेषणाके साथ लिखेगये हैं जिनका वर्णन १९ सर्गोंमें इस ग्रन्थमें वर्णन किया गया है.

जो वज्र और अग्निके समान तेजस्वी जिसके मंत्राभिचाररूप वज्र-प्रहारसे अच्छे पर्ववाला श्रीमान् नन्दवंशरूप पर्वत समूल नष्ट होगया ॥४॥

एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥ ५ ॥

जो पराक्रममें साक्षात् कार्तिकेयके समान जिसने इकलेही मंत्ररूप शक्तिके प्रभावसे चन्द्रगुप्तराजाको साम्राज्य दिया ॥ ५ ॥

नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ ६ ॥

जिसने अर्थशास्त्ररूप महासमुद्रसे नीतिशास्त्ररूप अमृत निकाला उस असीमगुणसम्पन्न विष्णुगुप्त (चाणक्य) के निमित्त नमस्कारहै ॥ ६ ॥

दर्शनात् तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः ।
राजविद्याप्रियतया संक्षिप्तग्रन्थमर्थवत् ॥ ७ ॥

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति प्रभृति सर्वशास्त्रविशारद निर्मलज्ञानसपन्न उस गुरुवर: विष्णुगुप्तप्रणीत शास्त्रका अनुशीलन करके मैंने जो ज्ञान प्राप्तकियाहै उसके अनुसार राजनीतिप्रियताके कारण संक्षेपसे यह ''नीतिग्रंथ'' प्रकाश करताहूं ॥ ७ ॥

उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं प्रति ।
यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामो राजविद्याविदां मतम् ॥ ८ ॥

राज्यलाभ और राज्यप्रतिपालनसम्बन्धमें राजोंको जो उपाय अवलम्बन करने उचितहै, हम इस ग्रंथमें वह वर्णन करतेहैं ॥ ८ ॥

राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः ।
नयनानन्दजननः शशाङ्क इव तोयधेः ॥ ९ ॥

सर्वप्रधान प्रथम राजाहीका वर्णन करते हैं कि, इस जगतकी उन्नत्तिका

एकमात्र राजाही हेतुहै, यह वृद्धजनोंने कहाहै, चन्द्रमा जिसप्रकार समुद्रको आल्हादित करताहै, इसीप्रकार राजा प्रजाके नेत्रोंको आनन्द देताहै ॥९॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ १० ॥

यदि भलीप्रकार शिक्षा करनेवाला राजा न हो तो समुद्रमें कर्णधारहीन नौकाकी समान प्रजागण विपत्तिको प्राप्तहोजाँय ॥ १० ॥

धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम् ।
राजानमभिमन्येत प्रजापतिमिव प्रजा ॥ ११ ॥

धर्मानुसार भलीप्रकार पक्षपातरहित होकर पुत्रके समान प्रजापालनमें तत्पर शत्रुनाशक राजाको प्रजापति अर्थात् सृष्टिकर्त्ताकी समान प्रजा सर्व-भावसे सन्मान करतीहै ॥ ११ ॥

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्द्धयति पार्थिवम् ॥
वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ १२ ॥

राजा दण्डयोग्योंको दण्डविधान और अदण्ड व्यक्तियोंको सन्मान-पूर्वक प्रजाओंको भलीप्रकार शत्रुओंके हाथसे रक्षा करके पालन करताहै तो प्रजागणभी धान्य धनादिद्वारा प्राणपणसे राजाकी सम्पत्ति बढ़ाती है बढ़ना और पालना इनमें पालनाही श्रेयस्करहै. कारण कि, शत्रुओंके हाथसे प्रजाकी रक्षा न करनेसे राजाका मंगल नहीं होता ॥ १२ ॥

न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजाः ।
त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥ १३ ॥

जिस समय राजा न्यायपरायण होता है तब वह अपनेको और प्रजाको भी त्रिवर्ग अर्थ, धर्म, काम, का साधन करासकता है, अन्यथा अवश्यही त्रिवर्गका नाशक होता है ॥ १३ ॥

धर्माद्वै यवनो राजा चिराय बुभुजे भुवम् ।
अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम् ॥ १४ ॥

धर्मसे यवनराजानेभी चिरकालतक पृथ्वीको भोगाहै और अधर्म करनेसे राजा नहुष शीघ्रही रसातलको प्राप्त हुआ [नहुष राजा पहले बड़ा धर्मात्मा था जब एक समय इन्द्र अपने अमरराजसे वंचित हुए तब महर्षियोंने इनकोही अमरावतीका राजा किया । तब इन्होंने इन्द्राणीकी अभिलाषा की और उसके प्राप्त करनेको उसकी प्रतिज्ञानुसार महर्षियोंको पालकीमें लगाया वे इनकी पालकी लेकर चले और राजा शीघ्र चलनेकेलिये सर्प २ कहने लगे, जिससे उनको क्रोध हुआ । तब राजाके चरणप्रहार करनेपर दुर्वासाने शाप दिया कि, तुम शीघ्रही सर्प होकर पृथ्वीमें गिरो, राजा तुरंत अजगर हो गिरा उसका धर्मराज युधिष्ठिरने उद्धार किया] ॥ १४ ॥

तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ।
धर्मेण वर्द्धते राज्यं तस्य स्वादु फलं श्रियः ॥ १५ ॥

इसकारण धर्मकोही आगे करके राजाको अर्थप्राप्तिमें यत्न करना चाहिये धर्मसे राज्य बढ़ताहै और लक्ष्मी उसका स्वादु फलहै ॥ १५ ॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोषो बलं सुहृत् ।
एतावदुच्यते राज्यं सत्वबुद्धिव्यपाश्रयः ॥ १६ ॥

स्वामी, मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष (खजाना), सेना, मित्रवर्ग इन सबका नाम राज्यहै कि सत्वगुणी बुद्धिका आश्रय करै ॥ १६ ॥

आलम्ब्य बलवत्सत्त्वं बुद्ध्यालोकितनिर्गमः ।
सप्ताङ्गस्यास्य लाभाय यतेत सततोत्थितः ॥ १७ ॥

बलपूर्वक सत्त्वगुणका अवलम्बनकर बुद्धिसे निर्गमके उपायको देखता हुआ राजा निरन्तर जागताहुआसा इन सातोंअंगोंके लाभका यत्नकरै॥ १७॥

न्यायेनार्जनमर्थस्य रक्षणं वर्द्धनं तथा ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥ १८ ॥

न्यायद्वारा धनका उपार्जन, उसकी रक्षा, और बढाना, तथा सत्पात्रमें उसका निक्षेप यह चारप्रकारकी राजाकी कर्तव्यता है ॥ १८ ॥

नयविक्रमसम्पन्नः सूत्थानश्चिन्तयेच्छ्रियम् ।
नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयः ॥ १९ ॥

नीति और पराक्रमसम्पन्न राजा उन्नतिकी इच्छावाला लक्ष्मीकी चिन्ता करताहै कि, यह किसप्रकार वृद्धिको प्राप्तहोगी !विनय नीतिका मूलहै विनयही शास्त्रका निश्चयहै ॥ १९ ॥

विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति ।
तन्निष्ठस्य हि शास्त्रार्थाः प्रसीदन्ति ततः परम् ॥ २० ॥

विनयही इन्द्रियजयमें साधकहै इस विनयसे युक्तहुआ पुरुषही शास्त्रको प्राप्तहोताहै इसमें निष्ठा करनेके उपरान्तही सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ प्रकाशित होते हैं ॥ २० ॥

शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता ।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेश सहिष्णुता ॥ २१ ॥

शास्त्र, बुद्धि,धृति (धीरता), दक्षता, प्रगल्भता धारणाशक्ति, उत्साह, बोलनेमें चतुराई, दृढता दुःखमें क्लेश सहनेका अभ्यास ॥ २१ ॥

प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।
श्रुतं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥ २२ ॥

प्रभाव, पवित्रता,मित्रता, त्याग, सत्यबोलना, दूसरेका उपकार मानकर उसको स्मरण रखना, शास्त्र तथा शीलसम्पन्न होना और बाहर भीतरकी इन्द्रियोंका जय करना यह गुण सम्पत्तिके कारणहैं ॥ २२ ॥

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।
ततोऽमात्यांस्ततोभृत्यांस्ततः पुत्रांस्ततः प्रजाः॥ २३॥

राजाको उचितहै कि, प्रथम अपनेको विनयसम्पन्न करै फिर मंत्री फिर भृत्य और फिर पुत्र और तत्पश्चात् प्रजाको संपन्न करै ॥ २३ ॥

सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्भूयसी श्रियमश्नुते ॥ २४ ॥

सदा प्रजामें अनुरक्त, प्रजापालनमें तत्पर विनीतआत्मा राजा महालक्ष्मीको प्राप्तहोताहै ॥ २४ ॥

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम् ।
ज्ञानांकुशेन कुर्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम् ॥ २५ ॥

बडे जटिल विषयरूपी बनमें दौडते हुए मनको मथनेवाले इन्द्रियरूप हाथीको ज्ञानरूपी अंकुशसे वशीभूत करै ॥ २५ ॥

आत्मा प्रयत्नेनार्थेभ्यो मनः समधितिष्ठति ।
संयोगादात्ममनसोः प्रवृत्तिरुपजायते ॥ २६ ॥

अपने प्रयत्नसेही मन अर्थोंसे रहित होकर अचल होताहै, आत्मा और मनके संयोगसेही कार्यकी प्रवृत्ति प्रगट होतीहै ॥ २६ ॥

विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् ।
तन्निरुन्ध्यात्प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥ २७॥

विषयरूपी आमिषके लोभसे मन इन्द्रियोंको प्रेरणा करताहै. इससे यत्नसे मनको जय करनाचाहिये मनके जीतनेसे इन्द्रियें जीतलीजातीहैं ॥२७॥

विज्ञानं हृदयं चित्तं मनो बुद्धिश्च तत्समम् ।
अनेनात्मा करोतीह प्रवर्त्तननिवर्त्तने ॥ २८ ॥

विज्ञान, हृदय, चित्त, मन, बुद्धि, इनके साथही आत्मा निवृत्तिमार्गमें प्रवृत्ति करताहै ॥ २८ ॥

धर्माधर्मौ सुख दुःखमिच्छाद्वेषौ तथैव च ।
प्रयत्नज्ञानसंस्कारा आत्मलिङ्गमुदाहृतम् ॥ २९ ॥

धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, संस्कार, यह आत्मा का लिङ्ग कहागयाहै अर्थात् जहां यह हो वहां आत्माकी स्थिति जानी जातीहै ॥ २९ ॥

ज्ञानस्यायुगपद्भावोमनसो लिङ्गमुच्यते ।
नानार्थेषु च संकल्पः कर्म चास्य प्रकीर्त्तितम् ॥ ३० ॥

एकसाथ दो वस्तुओंके ज्ञानका उदय न होना मनका लिंगहै, अनेक अर्थोंमें संकल्प करना इसका कर्महै ॥ ३० ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
पायूपस्थे हस्तपादौ वागितीन्द्रियसंग्रहः ॥ ३१ ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पांचवीं, नासिका, गुदा, उपस्थ, हाथ, चरण और वाणी यह इन्द्रियसमुदायहै ॥ ३१ ॥

शब्दःस्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
उत्सर्गानन्दनादानगत्यालापाश्च तत्क्रियाः ॥ ३२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, पांचवाँ गंध, मलत्याग, आनन्द, ग्रहण गति, और आलाप (बातचीत्त) यह क्रमसे इन इन्द्रियोंकी कियाहै ॥ ३२ ॥

आत्मा मनश्च तद्विद्यैरन्तःकरणमुच्यते ।
आभ्यां तु सप्रयत्नाभ्यां संकल्प उपजायते ॥ ३३ ॥

आत्मा और मनके संयोगका नाम अन्तःकरण है इन्हींके प्रयत्नसे संकल्प उत्पन्न होताहै ॥ ३३ ॥

आत्मा बुद्धीन्द्रियाण्यर्था बहिष्करणमुच्यते ।
संकल्पाध्यवसायाभ्यां सिद्धिरस्य प्रकीर्त्तिता ॥ ३४ ॥

आत्माका बुद्धि इन्द्रिय और अर्थोंसे संयोग बहिष्करण कहाताहै संकल्प और उत्साहसे इसकी सिद्धि कहीगईहै ॥ ३४ ॥

उभे एते हि करणे यत्नानन्तर्य्यके स्मृते ।
तस्मात्प्रवृत्तिसंरोधाद्भावयेन्निर्मनस्कताम् ॥ ३५ ॥

यह दोनोंही साधन आन्तारिक यत्नवालेहैं इससे इनकी प्रवृत्ति रोककर मनकी निश्चलताकी भावना करै ॥ ३५ ॥

एवं करणसामर्थ्यात्संयम्यात्मान मात्मनः ।
नयापनयविद्राजा कुर्व्वीत हितमात्मनः ॥ ३६ ॥

इसप्रकार साधनकी सामर्थ्यसे आत्मासेही आत्माको निरोध करै नीति और अनीतिका जाननेवाला राजा अपना हितसाधन करै ॥ ३६ ॥

एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निबर्हणे ।
महीं सागरपर्य्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति ॥ ३७ ॥

जो एक अपने मनके जीतनेमेंही समर्थ नहींहै वह समुद्रपर्यन्त पृथिवीको किसप्रकार जीतसकताहै ॥ ३७ ॥

क्रियावसानविरसैर्विषयैरपहारिभिः ।
गच्छत्याक्षिप्तहृदयः करीव नृपतिर्ग्रहम् ॥ ३८ ॥

कार्यके पीछे विरस होनेवाले, मनको हरनेवाले विषयोंसे हृदयमें ताडन किया हुआ राजा हाथीके समान पकड़ लियाजाताहै ॥ ३८ ॥

सज्जमानो ह्यकार्य्येषु विषयान्धीकृतेक्षणः ।
आवहत्युग्रभयदां स्वयमेवापदं नृपः ॥ ३९ ॥

अकार्योंमें निरन्तर लगाहुआ विषयोंसे अन्धाहुआ राजा स्वयंही महाभय देनेवाली उग्र विपत्तिको प्राप्तहोताहै ॥ ३९ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एकैकमलमेतेषां विनाशप्रतिपत्तये ॥ ४० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवीं गन्ध इन एक २ की भी अधिक आसक्ति राजाके विनाश करनेमें समर्थ है ॥ ४० ॥

शुचिशष्पांकुराहारो विदूरक्रमणक्षमः ।
लुब्धकाङ्गीतलोभेन मृगो मृगयते वधम् ॥ ४१ ॥

पवित्र दूर्वा अंकुरका भोजन करनेवाला, दूरभागनेमें समर्थ लुब्धके गीतसे लुभायाहुआ मृगभी आप अपने वधमें कारण होजाता है ॥४१॥

गिरीन्द्रशिखराकारो लीलयोन्मूलितद्रुमः ।
करिणीस्पर्शसम्मोहादालानं याति वारणः ॥ ४२ ॥

देखो पर्वतके शिखरकी समान आकारवाला लीलासेही वृक्षोंका उखाडनेवाला हाथी हथिनीके स्पर्शके लोभसे बंधनको प्राप्त होताहै ॥ ४२ ॥

स्निग्धदीपशिखालोकविलोभितविलोचनः ।
मृत्युमृच्छत्यसन्देहात् पतङ्गः सहसा पतन् ॥ ४३ ॥

स्निग्धदीपककी शिखाके दर्शनसे जिसके नेत्र लुभागयेहैं सो सहसा गिरकर उसपर पतंग अपना प्राण देदेताहै यह एकरूपका विषयहै इसमें सन्देह नहीं ॥ ४३ ॥

दूरेऽपि हि भवन् दृष्टेरगाधसलिले चरन् ।
मीनस्तु सामिषं लोहमास्वादयति मृत्यवे ॥ ४४ ॥

जिसके निवासका स्थान दृष्टिसे दूरहै जो अगाधजलमें रहताहै ऐसा मीन अपनी मृत्युके लियेही आमिषसहित लोहको भक्षण करताहै ॥ ४४ ॥

गन्धलुब्धो मधुकरो दानासवपिपासया ।
अभ्येत्य सुखसञ्चारां गजकर्णझनज्झनाम् ॥ ४५ ॥

गन्धके कारण लोभको प्राप्तहुआ दानमदरूपी आसवके पीनेकी इच्छा करनेवाला भ्रमर सुखसंचारिणी झनझनध्वनि हाथीके कानके समीप 'मरणके लियेही' आकर करताहै ॥ ४५ ॥

एकैकशो विनिघ्नन्ति विषया विषसन्निभाः ।
क्षेमी नु स कथं वा स्याद् यः समं पञ्च सेवते ॥ ४६ ॥

यह विषकी समान विषय एक एकही मारतेहैं फिर जो इन पांचों विषयोंको सेवन करताहै वह किसप्रकार कुशल रहसकताहै ॥ ४६ ॥

सेवेत विषयान् काले मुक्त्वा तत्परतां वशी ।
सुखंहि फलमर्थस्य तन्निरोधे वृथा श्रियः ॥ ४७ ॥

समयपर विषयोंको सेवन करै, पर जितेन्द्रिय पुरुषको इसकी तत्परता तथा आसक्ति नहीं चाहिये, अर्थका फल सुखहै यदि यह न मिलै तौ लक्ष्मी व्यर्थ है ॥ ४७ ॥

निकामं सक्तमनसां कान्तामुखविलोकने ।
गलन्ति गलिताश्रूणां यौवनेन सह श्रियः ॥ ४८ ॥

जिनके मन स्त्रीके देखनेमें अत्यन्त लगेहुयेहैं उनकी लक्ष्मी और यौवन आँसुओंके साथ नष्टहोते हैं ॥ ४८ ॥

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः ।
आत्मानं हन्तितान् हत्वा युक्त्या यो न निषेवते ॥ ४९ ॥

धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम और कामसे सुखफलका उदय होताहै जो युक्तिसे इनको सेवन नहीं करता वह इनको नाशकर अपनेको भी नष्टकरताहै ॥ ४९ ॥

नामापि स्त्रीति संह्लादि विकरोत्येव मानसम् ।
किंपुनर्दर्शनन्तस्या विलासोल्लासितभ्रुवः ॥ ५० ॥

स्त्रीहै, ऐसा मोहकारक शब्द मनमें तत्काल विकार करताहै फिर उस वामलोचना बाँकी भौंहवालीके दर्शनकी तौ कौन कहै ॥ ५० ॥

रहःप्रचारकुशला मृदुगद्गदभाषिणी ।
कंन नारी रमयति रक्तं रक्तान्तलोचना ॥ ५१ ॥

एकान्तप्रचारमें कुशल कोमल और गद्गदकंठसे भाषण करनेवाली कोयोंमें लालिमावाली वामलोचना नारी किस अनुरक्त पुरुषको नहीं रमातीहै? ५१॥

मुनेरपि मनोऽवश्यं सरागं कुरुतेऽङ्गना ।
प्रसन्नं कान्तिजननं सन्ध्येव शशिमण्डलम् ॥ ५२ ॥

वह स्त्री मुनिके मनकोभी रागी और वशीभूत करलेतीहै इसका प्रसन्न निर्मल कान्तिजनन संध्याकालीन चन्द्रमण्डलके समान मुखहै ॥ ५२ ॥

मनः प्रह्लादयन्तीभिर्मदयन्तीभिरप्यलम् ।
महान्तोऽपि हि भिद्यन्ते स्त्रीभिरद्भिरिवाचलाः ॥ ५३ ॥

मनको आनन्द देनेवाली मदकरानेवाली स्त्रियोंसे बडे विद्वान्भी विदीर्ण होजातेहैं जैसे जलवर्षणसे पर्वत ॥ ५३ ॥

मृगयाऽक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ।
दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदः पाण्डुनैषधवृष्णिषु ॥ ५४ ॥

राजोंको मृगया खेलना, पाशा खेलना, मदपान करना यह गर्हितहैं इन्हींके द्वारा पाण्डवों की नलकी और यदुवंशियोंकी विपत्ति देखीहै ॥५४॥

१-देखो राजा युधिष्ठिर जिस समय दुर्योधनसे जुआ खेलने लगे उस समय सर्वस्व हारकर पीछे द्रौपदीकोभी हारगये और तेरह वर्षतक वनमें रहना पड़ा और पीछेसे इसीके निमित्त महाभारत होकर भारतवर्ष रसातलको पहुँचा ।

२-राजा नल बड़ा प्रतापी राजा था, पर द्यूतके कारण सर्वस्व हरजाने एक जा-डाकपडा पहरे घरसे बाहर निकला और अन्तमें अपनी स्त्रीकोभी छोड़ बन न भट-कता फिरा, और सारथीके वेशमें राजा ऋतुपर्णके यहां कितनेही वर्ष बिताये, और फिर १२ वर्षमें पुष्करके पास लौटकर राजा ऋतुपर्णसे सीखी विद्याके कारण अपना राज्य पाया ।

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान, मद, यह छः वर्ग राजाको सदा त्यागने चाहिये इनके त्यागनेसे राजा सुखी होताहै ॥ ५५ ॥

दण्डको नृपतिः कामात्क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ॥ ५६ ॥

राजा दण्डक[1] कामके वशीभूत हो शुक्रकी कन्याके पकडनेमात्रसे नष्ट हुआ, ब्राह्मणोंपर[2] क्रोधकर उनके शापसे राजा जन्मेजय रोगीहुआ, राजर्षि राजा ऐल लोभसे, वातापी[3] असुर अपने अभिमानसे अगस्त्यद्वारा नष्टहुआ ५६

पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दम्भोद्भवो नृपः ।
प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥ ५७ ॥

पुलस्त्यका बेटा राक्षस रावण मानसे, दम्भोद्भव राजा मदसे नष्टहुआ अर्थात् यह महीपाल षड्वर्गरूप शत्रुके अधीन हो नष्ट होगये ॥ ५७ ॥

---

१ राजा दण्डकने एकान्तमें शुक्राचार्यकी कन्याको देखकर उससे मैथुनके लिये कहा उसके न माननेपर जब राजा बलसे पकड़नेलगा, तब वह छुडाय पिताके पास गई और समाचार सुनाया शुक्रने क्रोधकर यह शाप दिया कि सात दिनमें अग्निवर्षणसे यह सब देश नष्ट होजायगा, यह कह आप ऋषियों सहित वहांसे चलेगये और वह देश नष्ट होकर दण्डकवन होगया ।

२–जन्मेजयके अश्वमेधमें ब्राह्मणकुमार हँसपडेथे, राजाने उनका अनुचित हँसना देख उनको क्रोधकर भर्त्सनाकी, इससे क्रोधकर ब्राह्मणोंने राजाको शाप दिया कि तूं रोगी होजा ।

३–वातापी असुर ब्राह्मणका रूप बनाय ऋषियोंको निमंत्रित कर आता, और अपने भ्राता आतापीको बकरा बनाय उसका मांस उनको परोसता, जब वे खाचुकते तब पुकारता भाई निकलो, वो ब्राह्मणोंका पेट फाड निकल आता, ऐसे अनेक ब्राह्मण मारे, पीछे अभिमानसे अगस्त्यजीको निमंत्रण दिया, वे इसकी चेष्टाको जान इसके भ्राताको भोजनमें पचागये, और जब यह असुर अगस्त्यके मारनेको दौड़ा तब अगस्त्यजीने इसकाभी संहार किया ।

शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥ ५८ ॥

इन छहों शत्रुओंको जीतकर परशुराम जितेन्द्रियहैं, इसी जयसे महाभाग अम्बरीषने बहुत कालतक भूमिको भोगाहै ॥ ५८ ॥

शास्त्राय गुरुसंयोगः शास्त्रं विनयवृद्धये ।
विद्याविनीतो नृपतिर्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ ५९ ॥

शास्त्रज्ञानके निमित्त गुरुसंयोग, विनयवृद्धिकेलिये शास्त्रअभ्यास करै विद्यासे विनीत राजा संकटमेंभी दुःखी नहीं होताहै ॥ ५९ ॥

वृद्धोपसेवी नृपतिः सतां भवति सम्मतः ।
प्रेर्य्यमाणोऽप्यसद्वृत्तैर्नाकार्य्येषु प्रवर्त्तते ॥ ६० ॥

वृद्धोंकी सेवाकरनेवाला राजा संकट पडनेपरभी दुःखी नहीं होता और असत् वृत्तिमें प्रेरितहुआ भी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होताहै ॥ ६० ॥

आदधानः प्रतिदिनं कलाः सम्यङ् महीपतिः ।
शुक्लपक्षे प्रतिचरन् शशांक इव वर्द्धते ॥ ६१ ॥

राजा प्रतिदिन भलीप्रकार कलाओंको धारण करताहुआ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी समान वृद्धिको प्राप्तहोताहै ॥ ६१ ॥

जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिमार्गानुसारिणः ।
भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यःकीर्त्तयश्च नभःस्पृशः॥६२॥

---

१ राजा अम्बरीषपर एकादशीके व्रतमें पारण करलेनेपर दुर्वासाजीने क्रोधकर एक राक्षसीको प्रगट कर कहा कि, हमको निमन्त्रण देकर विना भोजन कराये तुमने कैसे जलसे पारण किया? राजाने कहा भगवन्! द्वादशी वीती जातीथी ब्राह्मणोंकी व्यवस्थासे जलमात्र ग्रहण किया है तथापि दुर्वासाने राजाके ऊपर राक्षसीकी प्रेरणा की, भगवान्ने सुदर्शन चक्रको भेजकर राजाकी रक्षाकरनेको कहा, सुदर्शन चक्र राक्षसीको संहारकर दुर्वासाके पीछे हुआ, एक वर्षतक ऋषिराज घूमें किसीने उनकी रक्षा न की और राजा वैसेही हाथ वाँधे खडा रहा, अन्तमें जब दुर्वासा राजापर आये तब राजाने सुदर्शन चक्रकी प्रार्थना कर ऋषिराजको बचाया और उनपर क्रोध न किया ।

त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इस विद्याको मनुष्य भलीप्रकार धारण कर वर्ततेहैं और त्रयीविद्याका एक विभागही आन्वीक्षिकी विद्या कहाती है॥ ३॥

वार्त्ता च दण्डनीतिश्च द्वे विद्ये इत्यवस्थिते ।
लोकस्यार्थप्रधानत्वाच्छिष्याः सुरपुरोधसः ॥ ४ ॥

वार्ता और दण्डनीति यह जो दो विद्याहैं यह लोकके प्रधान अर्थकी साधक वृहस्पतिके शिष्योंद्वारा प्रचार कीगई हैं ॥ ४ ॥

एकैव दण्डनीतिस्तु विद्येत्यौशनसी स्थितिः ।
तस्यान्तु सर्वविद्यानामारम्भाः समुदाहृताः ॥ ५ ॥

और यह दण्डनीति उशनस अर्थात् शुक्राचार्यकी विद्याहै, इसमें सब-विद्याओंका आरंभ कहागयाहै ॥ ५ ॥

विद्याश्चतस्र एवैता इति नो गुरुदर्शनम् ।
पृथक्पृथक्प्रसिद्ध्यर्थं यासु लोको व्यवस्थितः ॥६॥

यही चार विद्या हैं, इसप्रकार हमको गुरुका उपदेशहै पृथक्पृथक् प्रसिद्धिके निमित्त जिनमें लोक प्रतिष्ठित होरहेहैं ॥ ६ ॥

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्म्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीतौ नयानयौ ॥ ७ ॥

आन्वीक्षिकीसे आत्माका विज्ञान होताहै और त्रयीविद्यामें धर्म अधर्मकी व्यवस्थाहै वार्तामें अर्थ अनर्थका ज्ञान, दण्डनीतिमें नीति अनीति स्थितहै७॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता सती विद्या प्रचक्ष्यते ।
सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विभ्रमे ॥ ८ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता यह सती विद्या कहाती है सत्यही यदि दण्डनीतिका सम्यक् प्रभाव न हो तो यह सती विद्या असतीके समान होतीहैं ॥ ८ ॥

दण्डनीतिर्यदा सम्यङ्नेतारमधितिष्ठति ।
तदा विद्याविदः शेषा विद्याः सम्यगुपासते ॥ ९ ॥

जब दण्डनीति भलीप्रकारसे नेतामें स्थितरहतीहै तब विद्याका जाननेवाला सम्पूर्ण शेषविद्याओंको प्राप्तहोताहै ॥ ९ ॥

वर्णाः सर्व्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ।
ईक्षणाद्रक्षणं तासां तद्धर्म्मस्यांशभाङ्नृपः ॥ १० ॥

चारों वर्ण और चारों आश्रम अपनी २ विद्याओंमें प्रतिष्ठितहैं उनकी ईक्षणा करना (देखना) ही दर्शनहै जो ऐसा करताहै वही राजा धर्मका अंशभागी होताहै ॥ १० ॥

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः ।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥ ११ ॥

सुख दुःखके दिखानेसे कि इस कर्मसे यह सुख यह दुःख होताहै आन्वीक्षिकीका नाम आत्मविद्याहै इसके द्वारा तत्त्व देखनेसे विचारवान् हर्षशोकसे रहित होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋग्यजुःसामनामानस्त्रयो वेदास्त्रयी मता ।
उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि ॥ १२ ॥

ऋग्यजुः साम इन तीन वेदोंके प्रतिपादित कर्मउपासनाआदि त्रयीविद्या कहातेहैं, इस त्रयीविद्यामें यथाविधि स्थित होनेसे दोनों लोकोंको प्राप्तहोताहै ॥ १२ ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ १३ ॥

चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह छः अंग, मीमांसा, और न्यायविस्तार, धर्मशास्त्र और पुराण यह सब त्रयी विद्या कहीहै ॥ १३ ॥

पाशुपाल्यं कृषिः पण्यं वार्ता वार्त्तानुजीविनाम् ।
सम्पन्नो वार्त्तया साधुर्नवृत्तेर्भयमृच्छति ॥ १४ ॥

पशुपालन, कृषि (खेती) करना, बेंचना, खरीदना, यह वार्ता है । इस वार्तासे जो अनुजीवन करता है वह वार्तासे सम्पन्नहुआ महात्मा कभी वृत्तिसे भयको प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद्दण्डो महीपतिः ।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते ॥ १५ ॥

दम (संयम) काही वा दमन करनेहीका नाम दण्डहै वह दण्ड राजामें स्थितहै उसकी नीति दण्डनीतिहै नयन् अर्थात् सम्यक् रीतिसे सुमार्गमें चलानेसे इसको नीति कहतेहैं ॥ १५ ॥

तयात्मानञ्च शेषाश्च विद्याः पायान्महीपतिः ।
विद्या लोकोपकारिण्यस्तत्पाता हि महीपतिः ॥ १६ ॥

इससे और दूसरी सम्पूर्ण विद्याओंसे राजा अपनी रक्षाकरै, यह लोकको उपकार करनेवाली विद्याहैं राजा इनका रक्षकहै ॥ १६ ॥

विद्याद्यदाभिनिपुणाश्चतुर्वर्गमुदारधीः ।
विद्यात्तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते ॥ १७ ॥

उदार बुद्धिवाला जब इनके द्वारा चतुर्वर्गको जान्ताहै, इसीसे इनको विद्यात्व कहते हैं विद्ज्ञाने अर्थात् इनके द्वारा ज्ञान होताहै इसीसे इनको विद्या कहतेहैं ॥ १७ ॥

इज्याध्ययनदानानि यथाशास्त्रं सनातनः ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां सामान्यो धर्म्म उच्यते ॥ १८ ॥

यज्ञ करना, वेदपाठ करना, दानदेना, यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका शास्त्रविहित सनातन सामान्य धर्म है ॥ १८ ॥

याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।
वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनयो ज्येष्ठवर्णिनः ॥ १९ ॥

यज्ञ कराना वेदादि पढाना शुद्धतापूर्वक शुद्ध पुरुषसे प्रतिग्रहलेना यह मुनियोंने ब्राह्मणोंकी आजीविका वर्णन की है ॥ १९ ॥

शस्त्रेण जीवनं राज्ञो भूतानाञ्चाभिरक्षणम् ।
पाशुपाल्यं कृषिःपण्यं वैश्यस्याजीवनं स्मृतम् ॥ २० ॥

क्षत्रियको शस्त्रधारणद्वारा जीवन, प्राणियोंकी रक्षा करना यही वृत्ति निर्देशकीहै, पशुपालन कृषि और व्यापारसे वैश्यकी जीविका कहीहै ॥ २० ॥

शूद्रस्य धर्म्मः शुश्रूषा द्विजानामनुपूर्व्वशः ।
शुद्धा च वृत्तिस्तस्यैव कारुचारणकर्म्म च ॥ २१ ॥

और क्रमसें द्विजातियोंकी धर्मपूर्वक सेवा करनी शूद्रकी वृत्तिहै कारु [चित्रकारी] तथा चारण [कत्थक] कर्मसे आजीविका करनी उसकी शुद्धवृत्तिहै ॥ २१ ॥

गुरौ वासोऽग्निशुश्रूषा स्वाध्यायो व्रतधारणम् ।
त्रिकालस्नायिता भैक्ष्यं गुरौ प्राणान्तिकी स्थितिः २२ ॥

गुरुके यहां निवास, अग्निकी शुश्रूषा, सेवा, वेदादिपाठ, व्रतधारण, त्रिकालस्नान,भिक्षासे प्राणपर्यन्त गुरुके यहां निवास करै ॥ २२ ॥

तदभावे गुरुसुते तथा सब्रह्मचारिणि ।
कामतोवाऽऽश्रमान्यत्वं स धर्म्मो ब्रह्मचारिणः ॥ २३ ॥

अथवा गुरुजी नहों तो गुरुके पुत्रके समीप निवास ब्रह्मचर्यका धारण करना फिर विद्या पूर्णकर इच्छासे अन्य आश्रममें जाना यह ब्रह्मचारियोंका धर्म है ॥ २३ ॥

स मेखली जटी दण्डी मुण्डी वा गुरुसंश्रयः ।
आविद्याग्रहणाद्गच्छेत्कामतोवाऽऽश्रमान्तरम् ॥ २४ ॥

नीतिमार्गका अनुसरण करनेवाले जितेन्द्रिय राजाकी लक्ष्मी प्रकाशित होती और आकाशको स्पर्शकरनेवाली कीर्ति होती हैं ॥ ६२ ॥

इतिस्म राजा विनयी नयान्वितो निषेवमाणो नरदेवसेवितम् । पदंसमाक्रामतिभास्वरंश्रियःशिरोमहारत्नगिरेरिवोन्नतम् ६३॥

इसप्रकारसे राजा विनीत नययुक्त उत्तम नरेन्द्रोंसे सेवितहुआ प्रकाशित लक्ष्मीके पदको प्राप्तहोताहै और महारत्नरूपी पर्वतके शिरोभागमें अवस्थान करताहै ॥ ६३ ॥

इयं हि लोकव्यतिरेकवर्तिनी स्वभावतः पार्थिवता समुन्नता । बलात्तदेनांविनयेनियोजयेत्रयस्यसिद्धौ विनयःपुरःसरः॥६४॥

यही अन्वयव्यतिरेकसे वर्तनेवाली स्वभावसे पार्थिवता कहीहै इसको बलसे विनयमें नियुक्त करै नीतिकी सिद्धिमें विनय अग्र है ॥ ६४ ॥

परां विनीतः समुपैति सेव्यतां महीपतीनां विनयो विभूषणम् । प्रवृत्तदानो मृदुसञ्चरत्करःकरीव भद्रो विनयेन शोभते॥६५॥

विनीतपुरुष परमसेव्यताको प्राप्तहोताहै, राजोंका विनयही भूषणहै प्रवृत्तदानवाला अर्थात् दानशील मृदुता करलेनेवाला भद्र हाथीके समान विनयसे राजा शोभित होताहै ॥ ६५ ॥

गुरुस्तुविद्याधिगमायसेव्यते श्रुता च विद्यामतयेमहात्मनाम् । श्रुतानुबन्धीनिमतांतिवेधसामसंशयंसाधुभवन्तिभूतये॥६६॥

विद्याप्राप्तिके निमित्त गुरुकी सेवा कीजातीहै और विद्याकी प्राप्ति महात्माओंकी मतिके निमित्त होती है, विधानकर्ताओंकी शास्त्रसम्बन्धि मति होतीहै और वही कल्याणके निमित्त निःसन्देह साधु होते हैं॥ ६६ ॥

सुनिपुणमुपसेव्य सद्गुरुं शुचिरनुवृत्तिपरो विभूतये । भवतिहिविनयोपबृंहितो नृपतिपदाय शमायचक्षमः॥६७॥

अच्छ निपुण सद्गुरुकी सेवा करकै और जो पवित्र चरित्र करताहै,

वह ऐश्वर्यका प्राप्त होताहै विनयसे वृद्धिको प्राप्तहुआ राजा राजपद और शान्तिके लिये समर्थ होताहै ॥ ६७ ॥

अविनयरतमादराद्दते वशमवशञ्च नयन्ति विद्विषः ।
श्रुतविनयविधिंसमाश्रितस्तनुरपिनैतिपराभवंकाचित् ॥६८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे इन्द्रियविजयविद्या
वृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

जो अविनयमें रत तथा अवशहै तौभी उनको शत्रु तिस्कार कर वशमें करलेतेहैं और जो शास्त्र तथा विनयकी विधिको आश्रय किये हैं उनका कहीं थोडाभी पराभव नहीं होताहै ॥ ६८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां
इन्द्रियविजयविद्यावृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २.

आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्त्तां दण्डनीतिञ्च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वितः ॥ १ ॥

विनयसम्पन्न राजा आन्वीक्षिकी (तर्क) त्रयीविद्या वार्ता और दण्ड-नीति इनको जानकर और इनकी क्रियाकी चिन्ता करै ॥ १ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम् ॥ २ ॥

आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) त्रयी (वेदत्रयकी विद्या) वार्ता और सनातनकी दण्डनीति यह चारों विद्या देहधारियोंके योगक्षेमके निमित्त होतीहैं॥२॥

त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिरिति विद्या हि मानवाः ।
त्रय्या एव विभागोऽयं सेयमान्वीक्षिकी मता ॥३॥

वह ब्रह्मचारी मेखला धारण कियेरहै जटा रखायेरहै दण्ड धारण कियेरहै वा शिर मुँडायेरहै वा निरन्तर गुरुके यहांही निवास करता रहै विद्याके पूर्णहोनेतक वहीं रहै पछि इच्छा होनेसे दूसरे आश्रममें जाय ॥२४॥

अग्निहोत्रोपचरणं जीवनञ्च स्वकर्मभिः ।
धर्मोयं गृहिणां काले पर्व्ववर्जं रतिक्रिया ॥ २५ ॥

अग्निहोत्र करना अपने कर्मसे जीवन करना पर्वको छोड़कर समयमें रतिक्रिया यह गृहस्थियोंका धर्म है ॥ २५ ॥

देवपित्रतिथीनाञ्च पूजादीनानुकम्पनम् ।
श्रुतिस्मृत्यर्थसंस्थानं धर्मोऽयं गृहमेधिनः ॥ २६ ॥

देवता पितर अतिथियोंकी पूजा दीनोंपर दया श्रुतिस्मृतियोंके अनुसार चलना गृहस्थियोंका धर्म है ॥ २६ ॥

जडत्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणम् ।
वनवासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ॥ २७ ॥

जडवत् रहना, नित्य अग्निहोत्र करना, भूमिमें शयन करना, वल्कल वा मृगचर्म धारण करना, वनमें निवास, दूध, मूल, नीवार, अन्न, फलभोजन ॥ २७ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिःस्नानं व्रतचारिता ॥
देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः ॥ २८ ॥

प्रतिग्रह न लेना त्रिकालस्नान व्रताचरण देवताअतिथियोंकी पूजा, यह वनवासियोंका धर्महै ॥ २८ ॥

सर्व्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याश्यं वृक्षमूलता ।
निष्प्रतिग्रहताऽद्रोहः समता सर्व्वजन्तुषु ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण उद्योगका त्याग भिक्षा भोजन वृक्षमूलमें शयन प्रतिग्रहका न लेना किसीसे द्रोह न करना सब प्राणियोंमें समता ॥ २९ ॥

प्रियाप्रियपरिष्वङ्गःसुखदुःखाविकारिता ।
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता ॥ ३० ॥

प्रियअप्रियमें एकसा ज्ञान होना सुख दुःखम हर्ष शोक न करना बाहर भीतरसे पवित्र होना वाणीमनसे व्रत आचरण करना ॥ ३० ॥

सर्व्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्याननित्यता ।
भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्धर्म्म उच्यते ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जय करना धारणा और नित्य ध्यान करना और भावशुद्धिहोना यह संन्यासियोंका धर्म है ॥ ३१ ॥

अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनाञ्चैव सामान्यो धर्म्म उच्यते॥ ३२॥

हिंसा न करनी, सत्य और मीठी बातें बोलना, सत्य पवित्रता दया क्षमा यह सब वर्ण और आश्रमोंका साधारण धर्महै ॥ ३२ ॥

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्व्वेषां वर्णिलिङ्गिनाम् ।
तस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात् ॥ ३३ ॥

यह धर्म वर्णाश्रमियोंको अनन्त कालतक स्वर्गके देनेवाले हैं इसक अभावमें यह लोक वर्णसङ्कर होकर नाशको प्राप्त होसकताहै ॥ ३३ ॥

सर्व्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्त्तकः ।
तस्याभावे धर्म्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः ॥ ३४ ॥

राजा इन सबकाही न्यायपूर्वक प्रवृत्तकरानेवालाहै इनके नहोनेसे धर्म-नाश और धर्मनाशसे जगत् नष्ट होजाताहै ॥ ३४ ॥

वर्णाश्रमाचारयुक्तो वर्णाश्रमविभागवित् ।
पाता वर्णाश्रमानाञ्च पार्थिवः सर्व्वलोकभाक् ॥ ३५॥

वर्णाश्रमके आचारसे युक्त वर्णाश्रमका विभाग जाननेवाला वर्णाश्रमका रक्षक राजा सब लोकका अधीश्वर होताहै ॥ ३५ ॥

इति यस्मादुभौ लोकौ धारयत्यात्मतो नृपः ।
प्रजानाञ्च ततः सम्यग् दण्डं दण्डीव धारयेत्॥ ३६॥

इसप्रकारसे आत्मवान् राजा दोनों लोकोंको धारण करताहुआ और प्रजाओंका यथायोग्य शासन करताहुआ दण्डीकी समान दण्डधारण करताहुआ वर्ते ॥ ३६ ॥

उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते ।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ ३७ ॥

तीक्ष्णदण्डसे प्रजा उद्वेजित (विरक्त) होजातीहै मृदुदण्डसे राजाहीका तिरस्कार होनेलगताहै, इसकारणसे राजा युक्तदण्डका विधान करै ॥३७॥

त्रिवर्गं वर्द्धयत्याशु राज्ञो दण्डो यथाविधि ।
प्रणीतो वाऽसमञ्जस्याद्वनस्थानपि कोपयेत् ॥३८॥

यथाविधिसे दण्डविधान करनेवाले राजाका त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ, काम,] वृद्धिको प्राप्त होताहै और जो अयुक्त शासन करताहै तब देशके तौ क्या वनके लोगोंकोभी कुपित करताहै ॥ ३८ ॥

लोकशास्त्रानुगो नेयो दण्डो नोद्वेजनः श्रिये ।
उद्वेजनादधर्म्मस्तु तस्माद्भ्रंशो महीपतेः ॥ ३९ ॥

लोकशास्त्रके अनुसार चलनेवाला नीतिमें तत्पर राजाका उचित दण्ड विरक्तताका कारण नहीं किन्तु लक्ष्मीका कारण होताहै प्रजाके उद्वेजनसे अधर्म होता और उससे राजा भ्रष्ट होजाताहै ॥ ३९ ॥

परस्पराभिषतया जगतो भिन्नवर्त्मनः ।
दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥४०॥

और जो परस्पर मांसभक्षणकी अभिलाषासे भिन्नमार्गमें स्थित जगत्को दण्डके अभावसे नष्ट करनाहै उसका नाम मात्स्यन्यायहै अर्थात् जैसे मच्छ

मच्छके मांसभक्षणकी अभिलाषा करते हैं ऐसा राजा प्रजाका वर्ताव, नष्टता-केलिये होताहै ॥ ४० ॥

जगदेतन्निरालम्बं कामलोभादिभिर्बलात् ।
निमज्जमानं निरये राज्ञा दण्डेन धार्य्यते ॥ ४१ ॥

यह जगत् काम और लेभकेद्वारा बलसे निरालम्ब नरकमें डूबताहै केवल दण्डसे राजाही इसको धारण करताहै ॥ ४१ ॥

इदं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतं परस्परं स्त्रीधनलोलुपं जगत् ।
सनातनेवर्त्मनिसाधुसेविते प्रतिष्ठते दण्डभयोपपीडितम् ॥४२॥

यह जगत् स्वभावसेही विषयोंके वशीभूतहै परस्पर स्त्री और धनमे लोभित होरहाहै, तब साधुसेवित सनातनमार्गमें दण्डके भयसे पीडित हुआही स्थित होताहै ॥ ४२ ॥

नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगात्
जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमथ विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमिव कुलनारी दण्डनीत्याऽभ्युपैति ॥ ४३ ॥

निरन्तर विषयोंमें वर्तनेवाले इस परवश जगत्में साधुचारित्रवाला पुरुष दुर्लभहै दण्डयोगसेही स्थिति होतीहै । कृश, अंगहीन, व्याधित, निर्धन पतिको कुलनारी दण्डसेही प्राप्त होती है ऐसेही प्रजा दण्डभयसे नियमके वशीभूत रहतीहै ॥ ४२ ॥

इति परिगणितार्थः प्राप्तमार्गानुसारी
नियमयति यतात्मा यः प्रजां दण्डनीत्या ।
अपुनरपगमाय प्राप्तमार्गप्रचाराः
सरित इव समुद्रं सम्पदस्तं विशन्ति ॥ ४४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विद्याविभागो वर्णाश्रमव्यवस्था दण्डमाहात्म्यञ्च द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इसप्रकार जो राजा सब अर्थोंको भलीप्रकार जानताहै और सनातन मार्गका अवलम्बन करताहै और स्वयं आत्मसंयमी होकर प्रजाको दण्डनीतिसे नियममें रखताहै उसने मुक्तिके निमित्त अपना मार्ग खोललियाहै जैसे नदियें समुद्रमें प्रवेश करतीं हैं इसीप्रकार सब सम्पत्तियें उसमें प्रविष्ट होतीहैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विद्याविभागो वर्णाश्रमव्यवस्था दण्डमाहात्म्यञ्च द्वितीयःसर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३.

दण्डं दण्डीव भूतेषु धारयन् धरणीपतिः ।
प्रजाः समनुगृण्हीयात्प्रजापतिरिव स्वयम् ॥ १ ॥

भूमिपति दण्डीकी समान सब भूतोंमें दण्डधारण करताहुआ प्रजापतिकी समान स्वयं प्रजापर अनुग्रह करै ॥ १ ॥

वाक् सूनृता दया दानं दीनोपगतरक्षणम् ।
इति सङ्गः सतां साधु ह्येतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ २ ॥

प्यारी सत्यवाणी, दया दान, दीनोंपर रक्षा सत्पुरुषोंकी संगति सच्चरित्र होना यह सत्पुरुषोंके व्रतहैं ॥ २ ॥

आविष्ट इव दुःखेन हृद्गतेन गरीयसा ।
समन्वितः करुणया परया दीनमुद्धरेत् ॥ ३ ॥

हृदयमें प्राप्तहुए बड़े दुःखसे घिराहुआ जैसे बड़ी करुणासे युक्त होकर दीनोंका उद्धार करना चाहिये ॥ ३ ॥

न तेभ्योऽभ्यधिकाः सन्तः सन्ति सत्पुरुषव्रतैः ।
दुःखपङ्कार्णवे मग्नं दीनमभ्युद्धरन्ति ये ॥ ४ ॥

जो सत्पुरुष अपने व्रतसे दुःखरूप दलदलके समुद्रमें डूबतेहुए दीनोंका उद्धार करतेहैं उनसे सन्तजन अधिक नहीं हैं ॥ ४ ॥

दयामास्थाय परमां धर्म्मादविचलन्नृपः ।
पीडितानामनाथानां कुर्य्यादश्रुप्रमार्ज्जनम् ॥ ५ ॥

राजा अपने धर्मसे विचलित न होता हुआ परमदयामें स्थित होकर पीड़ित अनाथजनोंका अश्रुमार्जन करे ॥ ५ ॥

आनृशंस्यं परो धर्म्मः सर्व्वप्राणभृतां यतः ।
तस्माद्राजाऽऽनृशंस्येन पालयेत्कृपणं जनम् ॥ ६ ॥

जिसकारण कि, प्राणियोंपर क्रूरता नकरना यही सबका परम धर्म है, इसकारण राजा दुःखीजनोंका मृदुतापूर्वक पालन करै ॥ ६ ॥

नहि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपणं नृपः ।
कृपणः पीड्यमानोहि मन्युना हन्ति पार्थिवम् ॥७॥

अपने सुखकी इच्छासे राजाको कृपणजनको पीडा न देनी चाहिये, कारण कि वह पीडित हुआ दीन अपने क्रोधसे राजाको नष्ट करदेता है॥७॥

कोहि नाम कुले जातः सुखलेशेन लोभितः ।
अल्पसाराणि भूतानि पीडयेदविचारयन् ॥ ८ ॥

ऐसा कौन कुलजात श्रेष्ठ पुरुष होगा जो अपने थोड़ेसे सुखके लिये अल्पबलवाले प्राणियोंको विनाविचारे पीड़ित करैगा ॥ ८ ॥

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने ।
कोहि नाम शरीराय धर्म्मापेतं समाचरेत् ॥ ९ ॥

आधिव्याधिसे युक्त आज वा कल नाश होनेवाले शरीरके निमित्त धर्मसे रहित कार्य कौन करेगा ॥ ९ ॥

आहार्य्यैर्नीयमानं हि क्षणं दुःखेन ह्रियताम् ।
छायामात्रकमेवेदं पश्येदुदकबिन्दुवत् ॥ १० ॥

जो केवल आहारमात्रसेही चलताहै क्षणमात्रमें दुःखसे नष्ट होजाताहै, इस छायामात्र देहको जलके बिन्दुकी समान जानना चाहिये ॥ १० ॥

महावाताहतभ्रान्ति मेघमालातिपेलवैः ।
कथं नाम महात्मानो ह्रियन्ते विषयारिभिः ॥ ११ ॥

जब कि, मेघमाला अतिशीघ्रगामी महापवनसे इधर उधर घूमने लगती है, तब विषयरूपी शत्रुओंसे महात्मालोग किसप्रकार विचलित न होंगे ॥ ११ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवनं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १२ ॥

जलके भीतर हिलते हुए चन्द्रबिम्बकी समान चंचल निश्चयही देहधारियोंका जीवन है तब ऐसा जानकर निरन्तर कल्याणकारी कर्म करै ॥ १२ ॥

जगन्मृगतृषातुल्यं वीक्ष्येदं क्षणभङ्गुरम् ।
स्वजनैः संगतः कुर्य्याद्धर्म्माय च सुखाय च ॥ १३ ॥

इस जगत्‌को मृगतृष्णाकी समान क्षणभंगुर जानकर अपने जनोंसे मिलकर धर्म और सुखके लिये कार्य करै ॥ १३ ॥

सेव्यमानस्तु स्वजनैर्महानति विराजते ।
सुधातल इव श्रीमान् प्रासादश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ १४ ॥

अपने जनोंसे सेवित हुआ यह पुरुष महान् होताहै तथा विराजित होताहै, जिसप्रकार चन्द्रकिरणोंसे श्रीमान् अमृतमय राजमहल शोभित होता है ॥ १४ ॥

हिमांशुमाली न तथा न चोत्फुल्लोत्पलं सरः ।
आनन्दयति चेतांसि यथा सज्जनचेष्टितम् ॥ १५ ॥

न ऐसा चन्द्रमा न ऐसा कमलखिला सरोवर चित्तको प्रसन्न करताहै जैसे सज्जनपुरुषकी चेष्टा चित्त प्रसन्न करतीहै ॥ १५ ॥

ग्रीष्मसूर्य्यांशुसन्तप्तमुद्वेजनमनाश्रयम् ।
मरुस्थलमिवोदग्रं त्यजेद्दुर्जनसङ्गतम् ॥ १६ ॥

गरमीके सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त उद्वेजन करनेवाले आश्रयहीन उद्दण्ड मरुस्थलकी समान दुर्जनकी संगतिको त्याग दे ॥ १६ ॥

सतः शीलोपसम्पन्नानकस्मादेव दुर्ज्जनः ।
अन्तः प्रविश्य दहति शुष्कवृक्षानिवानलः ॥ १७ ॥

पर्वतकी समान अचल सत्पुरुषोंके भी अन्तःकरण दुर्जन अकस्मात् प्रवेश करके सूखे वृक्षको अग्नि जैसे जला डालते हैं ॥ १७ ॥

निश्वासोद्गीर्णहुतभुग् धूमधूम्रीकृताननैः ।
वरमाशीविषैः सङ्गं कुर्य्यान्नत्वेव दुर्ज्जनैः ॥ १८ ॥

जिनके श्वास अग्निके समान निकलते हैं धूमसे धूम्रायमान मुखवाले सर्पजनोंकी संगति करना अच्छा है पर दुर्जनोंकी संगति अच्छी नहीं॥ १८॥

दीयते स्वच्छहृदयैः पिण्डो येनैव पाणिना ।
मार्ज्जार इव दुर्वृत्तस्तमेव हि विलुम्पति ॥ १९ ॥

स्वच्छहृदयवाले पुरुष जिस हाथसे पिण्डदेते हैं दुर्वृत्त होनेसे वही पुरुष मार्ज्जारकी समान लोप करदेता है ॥ १९ ॥

असाध्यं साधुमन्त्राणां तीव्रं वाग्विषमुत्सृजन् ।
द्विजिह्ववदनं धत्ते दुष्टो दुर्ज्जनपन्नगः ॥ २० ॥

तीक्ष्ण वाणीरूप विषको उगलताहुआ द्विजिह्वारूपी मुखवाला दुर्जनरूप सर्प साधुमन्त्रोंसे भी असाध्य होता है ॥ २० ॥

क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलिः ।

ततः साधुतरः कार्य्यो दुर्ज्जनाय हितार्थिना ॥२१॥

जैसे अपने जनके सत्कारके लिये अंजलीकी जाती है इसीप्रकार हितकी इच्छा करनेवालेको इससे भी अधिक दुर्जनका सत्कार करना चाहिये॥२१॥

ह्लादिनीं सर्व्वसत्त्वानां सम्यग्जनजिहीर्षया ।
भावयन् परमां मैत्रीं विसृजेल्लौकिकीं गिरम् ॥२२॥

सबजीवोंको प्रसन्नकरनेवाली, सम्पूर्ण जनोंके चित्त हरनेवाली, परममैत्री की भावनावाली, लोकमोहिनी लोकसम्बन्धकी वाणी बोलै ॥ २२ ॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत् ।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन् ॥ २३ ॥

नित्य मनोहरवाणीसे जगत्को प्रसन्न करै चाहै कुवेर भी हो क्रूरवाणी सबको उद्वेजित करदेती है ॥ २३ ॥

हृदि विद्ध इवात्यर्थं यथा सन्तप्यते जनः ।
पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत् ॥२४॥

क्रूरवाणीसे यह मनुष्य हृदयमें अधिकतर सन्तप्त होता है इससे पीडित होकरभी विद्वान् कठोरवाणी न बोलै ॥ २४ ॥

तीव्राण्युद्वेगकारीणि विसृष्टान्यनपात्मकैः ।
कृन्तन्ति देहिनां मर्म्म शस्त्राणीव वचांसि च ॥२५॥

उद्वेग करनेवाले तीव्र वचन जव अन्यायी लोग उच्चारण करते हैं वह शस्त्रधारियोंकी समान देहधारियोंके मर्म छेदन करदेते हैं ॥ २५ ॥

प्रियमेवाभिधातव्यं नित्यं सत्सु द्विषत्सु च ।
शिखीव केकामधुरः प्रियवाक् कस्य न प्रियः ॥२६॥

इससे मित्र और वैरी सबसेही प्यारे वचन कहने चाहिये देखो मोरकी वाणी किसको प्यारी नहीं होती ॥ २६ ॥

अलङ्क्रियन्ते शिखिनः केकया मदरक्तया ।
वाचा विपश्चितोऽत्यर्थं माधुर्य्यगुणयुक्तया ॥ २७ ॥

मदसे अनुरक्त मयूरवाणीसे अलंकार कियेजाते हैं, इसी प्रकार मधुरतायुक्त वाणीसे बुद्धिमानोंकी शोभा होती है ॥ २७ ॥

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः ।
सरन्ति न तथा वाचो यथा साधुविपश्चिताम् ॥ २८ ॥

मदसे रक्त हंस, कोकिला, मोरकी भी ऐसी वाणी नहीं निकलतीं जैसी कि महात्मा बुद्धिमान् मनोहर वाणी बोलते हैं ॥ २८ ॥

गुणानुरागी स्थितिमान् श्रद्दधानो दयान्वितः ।
धनं धर्म्माय विसृजेत् प्रियां वाचमुदीरयेत् ॥ २९ ॥

गुणोंमें अनुरागी स्थितिवाला, श्रद्धायुक्त, दयासम्पन्न पुरुष प्यारी वाणी बोलताहुआ धर्मार्थ धनको दान करै ॥ २९ ॥

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतिम् ।
श्रीमन्तोऽनिन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः ॥ ३० ॥

जो प्रियवाणी बोलतेहैं और सत्कार करतेहैं वह श्रीमान् निन्दारहित चरित्रवाले मनुष्य शरीरधारी देवताहीहैं ॥ ३० ॥

शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा ।
देवतावद्गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम् ॥ ३१ ॥

शुचि, आस्तिक और पवित्र आत्मा होकर सदा देवपूजन करनाचाहिये गुरुजनोंके देवके समान और सुहृज्जनोंको आत्माकी समान मानै ॥ ३१ ॥

प्रणिपातेन हि गुरून् सतोऽनूचानचेष्टितैः ।
कुर्व्वीताभिमुखान् भूत्यै देवान् सुकृतकर्म्मणा ॥ ३२ ॥

गुरुजनोंको दण्डवत् करके सत्पुरुषोंको नम्रभावसे, देवताओंको पुण्यकर्मसे ऐश्वर्यके निमित्त अपने सन्मुख करै ॥ ३२ ॥

स्वभावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान् ।
स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम् ॥ ३३ ॥

स्वभावसे मित्रको, सद्भावसे बन्धुजनोंको, प्रेमदानसे स्त्री और भृत्योंको, चतुराईसे दूसरे जनोंको वशीभूत करै ॥ ३३ ॥

अनिन्दापरकृत्येषु स्वधर्म्मपरिपालनम् ।
कृपणेषु दयालुत्वं सर्व्वत्र मधुरा गिरः ॥ ३४ ॥

दूसरेके कार्य्योंकी निन्दा न करनी अपने धर्मका पालन करना, दीनोंपर दया, और सबसे मीठे वचन बोलना ॥ ३४ ॥

प्राणैरप्युपकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे ।
गृहागते परिष्वङ्गः शक्त्या दानं सहिष्णुता ॥ ३५ ॥

प्राणपणसे भी कपटरहित मित्रका उपकार करना, घरमें आयेहुएसे मिलना, शक्ति अनुसार दान सहनशीलता ॥ ३५ ॥

बन्धुभिर्बन्धुसंयोगः स्वजने चरितानि च ।
तच्चित्तानुविधायित्वमिति वृत्तं महात्मनाम् ॥ ३६ ॥

बन्धुओंकेद्वारा बन्धुसंयोग, अपने जनोंमें सच्चरित्रता और उनके चित्त रंजनका विधान करना, यह महात्माओंका वर्ताव होताहै ॥ ३६ ॥

सनातने वर्त्मनि साधु तिष्ठतामयंहि पन्था गृहमेधिनां मतः ।
अनेन गच्छन्नियतंमहात्मनामिमञ्चलोकंपरमञ्चविन्दति ॥ ३७ ॥

गृहस्थियोंको सनातन मर्यादामें भलीभाँतिसे रहनाही सुमार्ग कहागया है जो महात्मा निरन्तर इस मार्गमें चलते हैं, वह इस लोक और परलोककोभी प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

इतिपथि विनिवेशितात्मनो रिपुरपि गच्छति साधु मित्रताम् ।
तदवनिपतिर्मत्सराहते विनयगुणेन जगद्वशी भवेत् ॥ ३८ ॥

जो कोई अपनेको इस मार्गमें चलाता है उसके शत्रुभी मित्र होजाते हैं सो राजा यदि अभिमानी न हो तो उसके विनय और गुणोंसे जगत् वशीभूत होजाताहै ॥ ३८ ॥

क्क च नरपतिवर्गः संग्रहः क्क प्रजानां
मधुरवचनयोगाल्लोकमाह्लादयीत ।
मधुरवचनपाशैरानतो लालितः सन्
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति ॥ ३९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे आचारव्यवस्थापनं
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

कहां तो नरपतिवर्ग, कहां प्रजाओंका संग्रह परन्तु लोकोंके प्रसन्न करनेवाले मधुरवचनके योगसे प्रजा वशमें आती है मधुरवचनके पाशोंसे नम्रीभूत और लालित हुई प्रजा मर्यादासे भिन्न एक पदभी तो चलनेको समर्थ नहीं होती ॥ ३९ ॥

इति श्रीकामन्दकीय नीतिसारे भाषाटीकायामाचारव्यवस्थापनं
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ४.

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ १ ॥

स्वामी, मन्त्री, राज्य, किला, खजाना, सेना, मित्रवर्ग यह परस्पर उपकारी होनेसे राज्यके सात अंग कहे हैं ॥ १ ॥

एकांगेनापि विकलमेतत्साधु न वर्त्तते ।
तस्य सामग्र्यमन्विच्छन् कुर्व्वीत सुपरीक्षणम् ॥ २॥

एक अंगके भी विकल होनेसे राज्यमें गड़बड़ होती है, इसकारण राजाको परीक्षापूर्वक इनकी सम्पूर्णता रखनी उचित है ॥ २ ॥

आत्मानमेव प्रथममिच्छेद्गुणसमन्वितम् ।
कुर्वीत गुणसंयुक्तस्ततः शेषपरीक्षणम् ॥ ३ ॥

पहले तो अपनेको गुणसम्पन्न करना चाहिये आप गुणसम्पन्न होकर फिर दूसरेकी परिक्षा करे ॥ ३ ॥

साधु भूतलदेवत्वं दुष्करश्चाकृतात्मभिः ।
आत्मसंस्कारसम्पन्नो राजा भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

महात्मा, पृथ्वीका देवता स्वरूप, अकृतात्माओंको दुष्कर आत्म संस्कारसम्पन्नही राजा होसकता है ॥ ४ ॥

लोकाधाराः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे विशदात्मनि संस्कृते ॥ ५ ॥

शुद्ध आत्मावाले संस्कारसम्पन्न राजाकी लक्ष्मी दूसरेको न प्राप्त होने वाली, तथा बडे श्रमसे वशीभूत होनेवाली लोकोंके आधारमें स्थित रहती है जैसे जल आधारमें स्थित रहते हैं ॥ ५ ॥

कुलं सत्त्वं वयः शीलं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता ।
असंविवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता ॥ ६ ॥

अच्छाकुल, बल, अवस्था, शील, चतुराई, कार्यको शीघ्र सम्पादन करना विवाद न करना, सत्य बोलना, वृद्धोंकी सेवा करना कृतज्ञ होना ॥ ६ ॥

दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिचारिता ।
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता ॥ ७ ॥

दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होना, सत्व सम्पन्न बुद्धि, वृहत्पुरुषोंको सेवामें रखना, समर्थ सामन्तोंको समीप रखना, दृढ भक्ति होनी ॥ ७ ॥

दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्ष्यता ।
विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्याभिगामिकाः ॥८॥

दीर्घदर्शी होना, उत्साह रखना, पवित्र रहना, स्थूलतासेही लक्ष्यंको जानलेना, विनयसम्पन्न होना, धर्मात्मा होना साध्यवस्तुके सिद्धकरनेके गुण रखना ॥ ८ ॥

गुणैरेतैरुपेतः सन्सुव्यक्तमभिगम्यते ।
तथा च कुर्वीत यथा गच्छेल्लोकाभिगम्यताम् ॥ ९ ॥

इन गुणोंसे युक्तहुआ स्वामी प्रत्यक्षही जान लियाजाताहै राजा इसप्रकारके आचरण करै जिससे सब लोक इसको प्रिय जाने ॥ ९ ॥

प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम् ।
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः ॥ १० ॥

विख्यातवंशवाले,क्रूरतारहित,लोकोंके संग्रहमें तत्पर,पवित्र ऐसे परिवारका संग्रह अपनी हितकी इच्छा करनेवाले राजाको करना चाहिये ॥१०॥

दुष्टोऽपि भोग्यतामेति परिवारगुणैर्नृपः ।
न क्रूरपरिवारस्तु व्यालाक्रान्त इव द्रुमः ॥ ११ ॥

दुष्टप्रकृतिवाला भी राजा परिवारके गुणोंसे भोग्यताको प्राप्त होताहै, पर क्रूरपरिवारवाला राजा सर्पोंसे व्याप्त वृक्षके समान भोग्यताको प्राप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

निरुन्धानाः सतां मार्गं भक्षयन्ति महीपतिम् ।
दुष्टात्मानस्तु सचिवास्तस्मात्सुसचिवो भवेत् ॥१२॥

सत्पुरुषोंके मार्गको रोकनेवाले दुष्टात्मा मंत्री राजाको भक्षण करतेहैं इसकारण राजाको अच्छे मंत्रियोंका संग्रह करना चाहिये ॥ १२ ॥

विभूतीः प्राप्य परमाः सतां सम्भोग्यतां व्रजेत् ।
यासु सन्तो न तिष्ठन्ति ता वृथैव विभूतयः ॥ १३ ॥

परमऐश्वर्यको प्राप्तहोकर सत्पुरुषोंकीही सम्भोगतांको प्राप्तहोना चाहिये और जिनमें सत्पुरुषोंकी स्थिति न होवे वे ऐश्वर्य वृथाही हैं ॥ १३ ॥

असद्भिरसतामेव भुज्यन्ते धनसम्पदः ।
फलं किम्पाकवृक्षस्य ध्वाङ्क्षा भक्षन्ति नेतरे ॥ १४ ॥

असत्पुरुषोंकी धनसम्पात्ति असत्पुरुषही भोगते हैं क्या पाक (पके) वृक्षके फलको कागही भोजन करतेहैं दूसरे नहीं ? ॥ १४ ॥

वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी ।
नेता दंडस्य निपुणः कृतशिल्पः सुविग्रहः ॥ १५ ॥

उदार, शास्त्रसम्मत बोलनेवाला, वाचाल, स्मृतिमान्, बडा बलवान्, जितेन्द्रिय, शिक्षक, दण्ड प्रयोग करता, चतुर, शिल्पविद्यामें निपुण, अच्छे शरीरवाला ॥ १५ ॥

पराभियोगप्रसहो दृष्टसर्वप्रतिक्रियः ।
परच्छिद्रानुपेक्षी च सन्धिविग्रहतत्ववित् ॥ १६ ॥

दूसरेके अभियोगको कठिनतासे सहनेवाला, सम्पूर्ण प्रतीकारोंका जाननेवाला, पराये छिद्र जानकर उपेक्षा न करनेवाला, संधिविग्रहके तत्वका जाननेवाला ॥ १६ ॥

गूढमन्त्रप्रचारश्च देशकालविभागवित् ।
आदाता सम्यगर्थानां विनियोक्ता च पात्रवित् ॥ १७ ॥

गुप्तसम्मतिका प्रचारकरनेवाला, देशकालके विभागका जाननेवाला, धनोंको सत्पात्रमें भलीप्रकार देनेवाला तथा सत्पात्रका ज्ञाता ॥ १७ ॥

क्रोधलोभभयद्रोह स्तम्भचापलवर्जितः ।

परोपतापपैशुन्यमात्सर्य्येर्ष्यानृतातिगः ॥ १८ ॥

क्रोध, लोभ, भय, वैर, स्तब्धता और चंचलतासे रहित; परायोंको दुःख देना, चुगली, अभिमान, ईर्षा और असत्यसे रहित ॥ १८ ॥

वृद्धोपदेशसम्पन्नः शक्तो मधुरदर्शनः ।
गुणानुरागी स्मितवागात्मसम्पत्प्रकीर्त्तिता ॥ १९ ॥

वृद्धपुरुषोंके उपदेश माननेवाला, समर्थ, मधुरदर्शी, गुणोंमें अनुरागी मधुरिमालिये बोलनेवाला यह सब आत्मसम्पत्ति कही हैं ॥ १९ ॥

इत्यादिगुणसम्पन्ने लोकयात्राविदि स्थिरे ।
निर्वृत्तः पितरीवास्ते यत्र लोकः स पार्थिवः ॥ २० ॥

जो इनको आदि लेकर और गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथा लोकयात्राके जाननेवाले स्थिरचित्त निश्चिन्त बुरेकर्मोंसे रहित, जिस राजामें प्रजा पिताकी समान वर्ताव करतीहै वही यथार्थ राजाहै ॥ २० ॥

आत्मसम्पद्गुणैः सम्यक संयुक्तं युक्तकारिणम् ।
महेन्द्रमिव राजानं प्राप्य लोकोऽभिवर्द्धते ॥ २१ ॥

जो आत्मसम्पत्तिके गुणोंसे भलीप्रकार युक्तहै युक्तिपूर्वक कार्यको करता है ऐसे महेन्द्रसमान राजाको प्राप्तहोकर प्रजा वृद्धिको प्राप्तहोतीहै ॥२१॥

शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः ॥ २२ ॥

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह (तर्कवितर्क) अर्थका विज्ञान और तत्त्वज्ञान यह बुद्धिके गुण हैं ॥ २२ ॥

दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथामर्षः शौर्य्यञ्चोत्साहलक्षणम् ।
गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥

चतुरता, शीघ्रकारिता, अमर्ष (असह्यता) शूरता यह उत्साहका लक्षण है, इन गुणोंसे युक्त हुआही राजा होसकताहै ॥ २३ ॥

त्यागः सत्यञ्च शौर्य्यञ्च त्रय एते महागुणाः ।
प्राप्नोति हि गुणान्सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः ॥ २४ ॥

त्याग (दान) सत्य बोलना और शूरता यह तीन महागुणहैं, इनसे युक्तहुआ राजा सम्पूर्ण गुणोंको प्राप्त होताहै ॥ २४ ॥

कुलीनाः शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः ।
दण्डनीतिप्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः ॥ २५ ॥

कुलीन, पवित्र, शूर, शास्त्रसम्पन्न, दण्डनीतिके यथायोग्य प्रयोग करनेवाले राजाके मंत्री होने चाहिये ॥ २५ ॥

उपधाः शोधिताः सम्यग्गाहमानाः फलोदयम् ।
तस्य सर्वं परीक्षेरन्सानुरागाः कृताकृतम् ॥ २६ ॥

यह भलीप्रकार उपायोंके जानेहुएहों वस्तुसामग्रीके शोधने जाननेवालेहों कौन वस्तु कहां स्थितहै, तथा फलके उदयको जाननेवाले अनुरागपूर्वक उस राजाके कर्म अकर्मकी मंत्रीजन परीक्षा करते रहैं ॥ २६ ॥

उपेत्य धीयते यस्मादुपधेति ततः स्मृता ।
उपाया उपधा ज्ञेयास्तयाऽमात्यान् परीक्षयेत् ॥ २७ ॥

समीप जाकर भलीप्रकार परीक्षा कीजाती है, इससे उपधा कहातीहै उपायोंका नामही उपधाहै अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और भयसे परीक्षापूर्वक मंत्री आदिके आशयको ढूँढना उपधा कहाती है । इन उपायोंद्वारा अमात्योंकी परीक्षा करै ॥ २७ ॥

स्ववग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः ।
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान् ॥ २८ ॥

अच्छा ज्ञानी, अपने देशका, कुलशील और बलसे सम्पन्न, वाचाल, प्रगल्भ, दूरदर्शी, उत्साही, समयपर तत्काल उपायका ज्ञाता ॥ २८ ॥

स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः ।
सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्य्यप्रभावारोग्यसंयुतः ॥ २९ ॥

स्तब्धता और चपलतासे हीन मित्रताके गुणसम्पन्न क्लेशका सहनेवाला, पवित्र सत्यवादी बल धैर्य स्थिरता प्रभाव और आरोग्यसे संयुक्त ॥ २९ ॥

कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः ।
दृढभक्तिरकर्त्ता च वैराणां सचिवो भवेत् ॥ ३० ॥

शिल्पविद्यामें चतुर दक्ष विचारबुद्धिसम्पन्न, मन्त्रादिधारणमें समर्थ, स्वामीमें दृढभक्तिकरनेवाला, तथा वैरोंका न करनेवाला ऐसा मंत्री होना चाहिये ॥ ३० ॥

स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्कों ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत् प्रकीर्त्तिता ॥ ३१ ॥

स्मृति अर्थात् कर्तव्य कर्मोंका स्मरण रखना योग्यतासे धनादि उपार्जन करनेमें तत्पर तर्करहितता ज्ञानमें निश्चय दृढता और मंत्रका गुप्त रखना यह मन्त्रीकी सम्पद् कही है ॥ ३१ ॥

त्रय्याञ्च दण्डनीत्याञ्च कुशलोऽस्य पुरोहितः ।
अथर्वविहितं कर्म्म कुर्य्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ॥ ३२ ॥

और इस राजाका पुरोहित त्रयीविद्या दण्डनीतिमें कुशल होनाचाहिये, व शान्तिक पौष्टिक कर्म अथर्ववेदके अनुसार करनेवाला होना चाहिये ॥ ३२ ॥

तादृक् सांवत्सरोप्यस्य ज्योतिःशास्त्रार्थचिन्तकः ।
प्रश्नाभिधानकुशलो होरागणिततत्त्ववित् ॥ ३३ ॥

इसीप्रकार तिथि आदिका यथायोग्य जाननेवाला प्रश्नकहनेमें चतुर, होरागणितके तत्त्वका जाननेवाला ज्योतिश्शास्त्रके अर्थका ज्ञाता, ज्योतिषी होना चाहिये ॥ ३३ ॥

साधुतैषाममात्यानां तद्विधेभ्यस्तु बुद्धिमान् ।
चक्षुष्मतश्च शिल्पञ्च परीक्षेत गुणद्वयम् ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् राजाको उचित है कि, इन अमात्यादिकी उन विधेयवस्तुओंसे दूरदर्शिता और शिल्पता इन दोनों गुणोंकी परीक्षा करै ॥ ३४ ॥

स्वजनेभ्यो विजानीयात् फलस्थानानवग्रहम् ।
परिकर्म्म स्वदाक्ष्यञ्च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ॥ ३५॥

फलके स्थानों और अवग्रह (अवर्षण) की जाँच अपने जनोंसे करनी चाहिये तथा परिकर्म [अंगसंस्कार] अपनी चतुराई विज्ञान और धारणा इसको स्वजनोंसे जानै ॥ ३५ ॥

गुणद्वयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभान्तथा ।
कथायोगेन बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ॥ ३६ ॥

प्रगल्भता और बुद्धिकी चमत्कारिता इन दोनों गुणोंकी परीक्षा करै बातचीतसे वाचालता और सत्यवादिता जान लीजाती है ॥ २६ ॥

उत्साहञ्च प्रभावञ्च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।
धृतिञ्चैवानुरागञ्च स्थैर्य्यं वा यदि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

उत्साह प्रभाव क्लेशकी सहनशीलता धृति, अनुराग (प्रेम) स्थिरता यह जाननीहों तथा ॥ २७ ॥

भक्तिं मैत्रीञ्च शौचञ्च जानीयाद्व्यवहारतः ।
संवासिभ्यो बलं सत्वमारोग्यं शीलमेव च ॥ ३८ ॥

भक्ति, मित्रता, पवित्रता यह व्यवहारसे जाननी चाहिये अपने समीप समान निवासियोंसे बल सत्व और आरोग्यता तथा शीलको जानै॥ २८॥

अस्तब्धतामचापल्यं वैरिणां चापि कर्तृताम् ।
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि ॥ ३९ ॥

स्तब्ध (जड) न होना, चपलता न होना तथा वैरियोंका कर्तव्य, श्रेष्ठता और नीचता यह बातें प्रत्यक्ष होनेसे जाननी चाहिये ॥ ३९॥

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्म विभावयेत् ॥ ४० ॥

और जितनी परोक्षगुणकी वृत्ति हैं वह सब उनके कर्मोंसे जाननी चाहिये, इससे परोक्ष वृत्ति (जो वस्तु सन्मुख नहीं) के फलोंको कर्म-द्वाराही जानै ॥ ४० ॥

सज्जमानमकार्येषु निरुन्धुर्मन्त्रिणो नृपम् ।
गुरूणामपि चैतेषां शृणुयाद्वचनं नृपः ॥ ४१ ॥

जिससमय राजा अकार्यमें प्रवृत्त हो तब मंत्रियोंको उसको निवारण करना चाहिये और राजाको उचितहै कि, गुरुजन और मंत्रीजन इनके वचनोंको मानै ॥ ४१ ॥

नरेश्वरे जगत्सर्वं निमीलति निमीलति ।
सूर्योदये यथाऽम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते ॥ ४२ ॥

राजाके नष्ट होने वा अज्ञानी होनेसे सब जगत् नष्ट होता है, वा सो जाता है, और राजाके जागरूक होनेसे सूर्योदयमें कमलकी समान खिल जाता है ॥ ४२ ॥

तं बोधयेज्जगन्नाथं सबुध्येत यथा तथा ।
धीसत्वोद्योगसम्पन्नैस्तत्कर्मसु समाहितैः ॥ ४३ ॥

उस जगतपति राजाको जैसे बने वैसे बुद्धि, सत्व,उद्योगसे सम्पन्न साव-धानीके कर्मोंसे जगावै ॥ ४३ ॥

नृपस्य ते हि सुहृदस्त एव गुरवो मताः ।
य एनमुत्पथगतं वारयन्त्यनिवारिताः ॥ ४४ ॥

राजाके जो सुहृद् हैं वेही उसके गुरु हैं जो इस राजाको कुमार्गमें चलतेही तत्काल रोंकदेते हैं और आप उसके भयसे सदुपदेशसे निवृत्त नहीं होते ॥ ४४ ॥

सज्जमानमकार्येषु सुहृदो वारयन्ति ये ।
सत्यन्तेनैव सुहृदो गुरवो गुरवो हि ते ॥ ४५ ॥

जो सुहृद् अकार्यमें लगेहुए राजाको निवारण करतेहैं, वेही सुहृद् सत्य सुहृद् हैं, और गुरुके गुरु हैं ॥ ४५ ॥

कृतविद्योऽपि बलिना व्यक्तं रागेण रज्यते ।
रागानुरक्तचित्तस्तु किन्न कुर्य्यादसाम्प्रतम् ॥ ४६ ॥

विद्वान्भी बलिष्ठ प्रेमरागमें निश्चयही अनुरक्त होजाताहै, और प्रेममें चित्त अनुरक्त होनेसे कौनसा अयोग्य कर्म नहीं किया जाता ? ॥ ४६ ॥

पश्यन्नपि भवत्यन्धः सम्राडागोवृतस्तु सन् ।
सुहृद्वैद्याश्चिकित्सन्ति निर्मलैर्विनयाञ्जनैः ॥ ४७ ॥

अनुरागी राजा देखता हुआभी अन्धाही रहता है तब सुहृद्रूपी वैद्यही इसकी निर्मल विनयरूप अंजनसे चिकित्सा करते हैं ॥ ४७ ॥

रागमानमदान्धस्य स्खलतः शत्रुसंकटे ।
हस्तावलम्बो भवति सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥ ४८ ॥

राग और मान मदसे अंधेहुए शत्रुसंकटमें पडे राजाको सुहृद् मांत्रिकी चेष्टाही हाथका सहारा होती है ॥ ४८ ॥

मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्यन्यायवृत्तस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ ४९ ॥

मदसे उद्धत, अन्यायमें प्रवृत्त हुए राजाके मन्त्रीही दुर्नामताको प्राप्त होतेहैं, जिसप्रकार उद्धत मदान्ध कुमार्गमें चलने वाले हाथीके महावतकी निन्दा होतीहै ॥ ४९ ॥

भूगुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये ।
तस्माद्गुणवतीं भूमिं भूत्यै भूपस्तु कारयेत् ॥ ५० ॥

पृथ्वीके गुणोंसे राज्य बढ़ताहै, और राज्यकी वृद्धिसे राजाकी वृद्धि होतीहै, इसकारण राजाको ऐश्वर्यवृद्धिकेनिमित्त पृथ्वीको गुणवतीकरनीचाहिये ॥ ५० ॥

शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता ।
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता ॥ ५१ ॥

अन्न तथा व्यापारिक वस्तुओंकी खान तथा खोदकर निकलनेवाले हीरा पन्ना आदि द्रव्योंसे युक्त, गौओंकी हितकारिणी, बड़े जलवाली पवित्र देशोंसे सम्पन्न ॥ ५१ ॥

रम्या सकुञ्जरवना वारिस्थलपथान्विता ।
अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये ॥ ५२ ॥

मनोहर, हस्तियोंसे सम्पन्न वनवाली, जल और स्थलके मार्गसे सम्पन्न विना मेघवर्षा भी अन्न उपजानेवाली अर्थात् कूप नहर आदिसे ही सींचनेसे अन्न प्रगट करनेवाली भूमि ऐश्वर्य वृद्धिके निमित्त होती है ॥ ५२ ॥

सशर्करा सपाषाणा साटवी नित्यतस्करा ।
रूक्षा सकण्टकवना सव्याला चेति भूरभूः ॥ ५३ ॥

कंकर पत्थरवाली, सर्वतः वनवाली, चोरोंसे नित्य सम्पन्न, रूखी कटीले वनोंवाली, सर्पोंकी अधिकाईवाली भूमि, ऐश्वर्यके निमित्त नहीं होती ॥ ५३ ॥

स्वाजीव्यो भूगुणैर्युक्तः सारूपः पर्वताश्रयः ।
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भकृषीवलः ॥ ५४ ॥

अपने अधीन आजीविकावाला भूमिके गुणोंसे युक्त सारूप (समान रूपवाला) पर्वतके आश्रयवाला अर्थात जिसके समीप पर्वत हो, शूद्र शिल्पी चित्र आदि बनानेवालोंसे युक्त, वणिग्जनोंसे व्याप्त, बडे आरम्भ करनेवाले किसानोंसे सम्पन्न ॥ ५४ ॥

सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः ।
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥ ५५ ॥

अपनेमें प्रेमकरनेवाला, राजशत्रुसे द्वेष करनेवाला, पीडाको सहलेनेवाला, विशाल, अनेक देशकी वस्तु तथा अनेक देशके प्राणियोंसे भराहुआ धर्मात्मा, पशुसम्पन्न और धनी ॥ ५५ ॥

ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः ।
तं वर्द्धयेत्प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते ॥ ५६ ॥

पढालिखा, इसप्रकारका देश प्रशंसाके योग्यहै और उसका नायकभी मूर्ख और विषयी नहो, उस देशको तथा राजाको यत्नसे बढाना चाहिये उसके बढनेसे सबकी वृद्धि होतीहै ॥ ५६ ॥

पृथुसीमम्महाखातमुच्चप्राकारगोपुरम् ।
समावेशत्पुरं शैलसरिद्वनवनाश्रयम् ॥ ५७ ॥

विशालसीमावाला अर्थात् बहुतसी भूमिको घेरकर बनाया हुआ, बहुत गहरी खाई, ऊँची चार दिवारी छज्जोंसे सम्पन्न पुरके समीप पर्वत, नदी तथा घने वनके समीप ॥ ५७ ॥

जलवद्धान्यधनवद्दुर्गं कालसहं महत् ।
दुर्गहीनो नरपतिर्वाताभ्रावयवैः समः ॥ ५८ ॥

जल, धान्य और धनसे भरा पुरा, समयको सहनेवाला, बड़ा दृढ दुर्ग राजाको बनाना चाहिये, किलेसे रहित राजा पवनसे प्रेरित मेघोंके टुकडोंकी समान छिन्न भिन्न होजाताहै ॥ ५८ ॥

औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनन्तथा ।
प्रशस्तं शास्त्रमतिभिर्दुर्गं दुर्गोपचिन्तकैः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके ज्ञाता दुर्गके विधान जाननेवालोंने जलवाले, पर्वतवाले, वृक्षोंवाले, ऊसरभूमिवाले और धनसम्पत्तिवाले दुर्गकी प्रशंसा कीहै ॥ ५९ ॥

जलान्नायुधयन्त्राढ्यं धीरयोधैरधिष्ठितम् ।
गुप्तिप्रधानमाचार्य्या दुर्गं समनुमेनिरे ॥ ६० ॥

जल अन्न शस्त्र और यन्त्रोंसे सम्पन्न, धीरवीर योधाओंसे व्याप्त, प्रधान मंत्रि और आचार्योंसे रक्षित दुर्गकी बड़ाई की है ॥ ६० ॥

सापसाराणि दुर्गाणि भुवः सारूपजाङ्गलाः ।
निवासाय प्रशस्यन्ते भूभुजां भूतिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

जलवाले दुर्ग और सारूप (अपने अनुरूप) जांगलदेश यह ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले राजोंके निवासके योग्य होतेहैं ॥ ६१ ॥

बह्वादानोऽल्पनिःस्रावः ख्यातः पूजितदैवतः ।
ईप्सितद्रव्यसम्पूर्णो हृद्य आप्तैरधिष्ठितः ॥ ६२ ॥

अब कोषका वर्णन करते हैं बहुत ग्रहणवाला, थोड़े खर्चवाला, विख्यात अधिदेवतासे पूजित, मन ईप्सित द्रव्योंसे भरापुरा, सहृदय, सज्जनपुरुषोंसे सेवित ॥ ६२ ॥

मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः ।
धर्म्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः ॥ ६३ ॥

मोती, सुवर्ण और रत्नोंसे भरा, पिता पितामहके सम्बन्धसे आयाहुआ, धर्मसे उपार्जन किया हुआ, कैसाभी खर्च आपडे उसको सहलेनेवाला खजाना कोषाध्यक्षको सम्मतहै ॥ ६३ ॥

धर्म्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च ।
आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ॥ ६४ ॥

धर्म और अर्थके निमित्त तथा भृत्योंके भरणपोषण करनेके निमित्त और आपत्तिके निमित्त कोषवालेको कोषकी सदा रक्षा करनी चाहिये॥ ६४॥

पितृपैतामहो वश्यः संहतो दत्तवेतनः ।
विख्यातपौरुषोर्जित्यः कुशलः कुशलैर्वृतः ॥ ६५ ॥

पिता पितामहोंके समयसे प्राप्त, वशीभूत, अपना परमहित, समयपर निरन्तर जिसके वेतन मिलतारहा, विख्यातपुरुषार्थवाला, समरजेता, चतुर चतुरजनोंसे सेवित ॥ ६५ ॥

नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः ।
नानायोधसमाकीर्णो नीराजितहयद्विपः ॥ ६६ ॥

अनेकप्रकारके प्रहार लगे शरीरवाला, अनेक युद्ध करनेमें कुशल अनेक योधाओंसे वेष्टित, हाथी घोडोंकी सवारीसे नीराजित ॥ ६६ ॥

प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः ।
अद्वैध्यक्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डविदां मतः ॥ ६७ ॥

परदेशके परिश्रम और दुःख तथा युद्धोंमें परिश्रम किये हुए अद्वितीय क्षत्रीही दण्डनेता दण्डके जाननेवालोंने कहा है ॥ ६७ ॥

त्यागविज्ञानसत्त्वाढ्यं महापक्षं प्रियं वदम् ।
आयतिक्षममद्वैध्यं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम् ॥ ६८ ॥

त्याग, विज्ञान और सत्त्वसम्पन्न मित्रके महापक्षको ग्रहण किये, प्रियवादी, आनेवाले समयके जाननेमें समर्थ, अव्यभिचारी, सत्कुलमें उत्पन्न मित्र करना चाहिये ॥ ६८ ॥

समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारुणेष्वप्यसंशयम् ।
दर्शयत्यच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्रताम् ॥ ६९ ॥

दारुण कष्टकेभी उपस्थित होनेमें निःसन्देह स्वच्छहृदय कुलीन मित्रही अपने प्राणोंके निर्मोहको दिखाता है ॥ ६९ ॥

पितृपैतामहं नित्यमद्वैध्यं हृदयानुगम् ।
महल्लघुसमुत्थानं मित्रं मित्रार्थमिष्यते ॥ ७० ॥

पिता पितामहके वंशक्रमसे प्राप्त नित्य अव्यभिचारी हृदयवाला महान और लघुउन्नतिशीलवाला मित्र, मित्रताके लिये इच्छा किया जाता है ॥ ७० ॥

दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्थहृदयानुगा ।
वाक् सत्कृत्य प्रदानञ्च त्रिविधो मित्रसंग्रहः ॥ ७१ ॥

दूरसेही सन्मुख गमन करना हृदयके अनुकूल स्पष्ट बोलना, वाणीसे सत्कारपूर्वक दान, यह तीन प्रकारसे मित्रका संग्रह होता है ॥ ७१ ॥

धर्म्मार्थकामसंयोगो मित्राणां त्रिविधं फलम् ।
यस्मादेतत्त्रयं न स्यान्नतत्सेवेत पण्डितः ॥ ७२ ॥

धर्म अर्थ और कामका संयोग यह तीन प्रकारसे मित्रोंके संग्रहका फल है, जिसमें यह तीनों न हों बुद्धिमान् उसका सेवन न करै ॥ ७२ ॥

आदौ तन्व्यो बृहन्मध्या विस्तारिण्यः पदे पदे ।
यामिन्यो न निवर्त्तन्ते सतां मैत्र्यः सरित्समाः ॥ ७३ ॥

प्रथम सूक्ष्म मध्यमें बृहत् फिर पदपदमें विस्तारवाली निरन्तर गामिनी नदीकी समान सत्पुरुषोंकी मित्रता कभी निवृत्त नहीं होती ॥ ७३ ॥

औरसं कृतसम्बद्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ ७४ ॥

सहोदर, सम्बन्धी तथा वंशपरम्परासे प्राप्त, व्यसनोंसे रक्षित ऐसे चार प्रकारके मित्र होतेहैं ॥ ७४ ॥

शुचिता त्यागिता शौर्य्यं समानसुखदुःखता ।
अनुरागश्च दाक्ष्यञ्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ७५ ॥

पवित्रता, त्याग, शूरता, सुखदुःखमें समानता अनुराग और दक्षता तथा सत्यता यह सुहृदोंके गुण हैं ॥ ७५ ॥

तदर्थं ह्यनुरागश्च संक्षिप्तं मित्रलक्षणम् ।
यस्मिन्नैतन्न तन्मित्रं तत्रात्मानं न निःक्षिपेत् ॥७६॥

और मित्रके निमित्त अनुराग यह संक्षेपसे मित्रके लक्षणहैं, जिसमें यह बातें न हों वह मित्र नहीं है उसमें अपनीआत्माको अर्पण न करें ॥७६॥

इति स्मराज्यं सकलं समीरितम्पराप्रतिष्ठाऽस्य धनं ससाधनम् ।
गृहीतमेतन्निपुणेन मन्त्रिणात्रिवर्गनिष्पत्तिमुपैतिशाश्वतीम् ७७॥

इसप्रकारसे राज्यका समस्त वर्णन किया यह विधान और प्रतिष्ठाका परमसाधन है, निपुणमंत्री द्वारा यह सब ग्रहण करनेसे सदा रहनेवाली त्रिवर्गकी निष्पत्ति [धर्म अर्थ कामकी प्राप्ति] होती है ॥ ७७ ॥

यथान्तरात्मा प्रकृतीरधिष्ठितश्चराचरं विश्वमिदं समश्नुते ।
तथा नरेन्द्रः प्रकृतीरधिष्ठितश्चराचरं विश्वमिदं समश्नुते॥ ७८॥

जिसप्रकारसे प्रकृतिसे अधिष्ठित अन्तरात्मा इस चराचर जगत्को भोगता है, इसीप्रकार प्रजाओंसे प्रतिष्ठित राजा इस चराचर विश्वको प्राप्त कर भोगता है ॥ ७८ ॥

प्रकृतिभिरिति सम्यगर्चितोजनपदमादरवांस्तु पालयेत् ।
जनपदपरिपालनाच्चिरं स्पृशति नृपः परमं श्रियः पदम् ॥७९॥

प्रजाओंसे सत्कारको प्राप्त हुआ राजा आदरपूर्वक देशकी पालना करै जनपदके पालन करनेसे राजा बहुत समयतक परं लक्ष्मीके स्थानको प्राप्त करता रहता है ॥ ७९ ॥

प्रकृतिगुणसमन्वितः सुधीर्व्रजति नृपः स्पृहणीयतां पराम् ।
भवति च स रणेषु विद्विषां प्रबल इव श्वसनः पयोमुचाम्॥८०॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोष दण्डमित्रवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

प्रजाके गुणोंसे युक्त बुद्धिमान् राजाकी बड़ी बड़ाई होतीहै, और वह युद्धमें शत्रुओंसे ऐसे प्रबल होजाता है, जिसप्रकार पवन मेघोंको छिन्न भिन्न कर देता है ॥ ८० ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां स्वाम्यमात्यजनपददुर्ग-कोषदण्ड मित्रवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५.

इत्यर्थवृत्तिसम्पन्नाः कल्पवृक्षोपमं नृपम् ।
अभिगम्य गुणैर्युक्तं सेवेयुरनुजीविनः ॥ १ ॥

इसप्रकार अर्थवृत्तिसे सम्पन्न कल्पवृक्षके समान गुणोंसे युक्त राजाके समीप जाकर सेवक अनुजीवी पुरुष सेवा करें ॥ १ ॥

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यते सद्गुणान्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्माच्छ्लाघ्यं कालान्तरादपि ॥ २ ॥

चाहें द्रव्य और प्रकृतिहीनभी हों पर सद्गुणोंसे युक्त होनेसे राजा सेवनीय होताहै, इससे आजीवन होताहै, और यह कालान्तरमें श्लाघनीय होता है ॥ २ ॥

अपि स्थाणुरिवासीत शुष्यन् परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवानात्यसम्पन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ३ ॥

चाहें ठूंठकी समान क्षुधासे व्याकुल होकर सूखजाय परन्तु पंडितजन गुणहीन अनात्मसम्पत्तिवाले राजासे वृत्तिकी इच्छा न करें ॥ ३ ॥

अनात्मवान्नयद्वेषी वर्द्धयन्नातिसम्पदः ।

प्राप्यापि महदैश्वर्य्यं सह तेन विपद्यते ॥ ४ ॥

जो अनात्मवान् नीतिका द्वेषी हो और उसके चाहें बड़ी सम्पत्तिकी वृद्धिहो, वह महान् ऐश्वर्यको प्राप्त होकरभी उसके सहित नष्ट होजाताहै ४

लब्धावकाशो निपुण आत्मवानविकारवान् ।
स्थाने स्थैर्य्यमवाप्नोति मतिकर्म्मसु निश्चितः ॥ ५ ॥

आत्मवान् अविकारी चतुर पुरुष कर्तव्य कर्मोंमें निश्चयवाला समय पाकर स्थानमें ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

आयत्याञ्च तदात्वे च यत्स्यादास्वादपेशलम् ।
तदेव तस्य कुर्वीत न लोकद्विष्टमाचरेत् ॥ ६ ॥

निश्चित प्रारब्धानुसार आगामी कालके आगमनमें तथा वर्तमानमें जो चतुराईसे उत्तम कार्य हो वही आरम्भ करै परन्तु प्राप्तिके निमित्त लोक द्वेषी कर्मको न करै ॥ ६ ॥

तिलाश्चम्पकसंश्लेषात्प्राप्नुवन्त्यधिवासताम् ।
रसो न भक्ष्यस्तद्गन्धः सर्व्वे सांक्रामिका गुणाः ॥ ७ ॥

चम्पेके साथ रखनेसे तिलोंमें वैसेही, सुगन्धि आजाती है, रस नहीं खाया जाता पर उसकी गन्ध तिलोंमें जाती है, इसकारण सम्पूर्ण गुण संक्रामिक हैं ॥ ७ ॥

अपां प्रवाहो गाङ्गो वा समुद्रं प्राप्य तद्रसः ।
भवत्यपेयस्तद्विद्वान्नाश्रयेदशुभात्मकम् ॥ ८ ॥

जलोंका वा गंगाजलोंका प्रवाह जब सागरमें जाता है तब पीनेके योग्य नहीं रहता, इससे विद्वान्को उचित है कि, अशुभ गुणवालेका आश्रय न करैं ॥ ८ ॥

क्लिश्यन्नपि हि मेधावी शुद्धं जीवनमाचरेत् ।
तेनेह श्लाघ्यतामेति लोकेभ्यश्च न हीयते ॥ ९ ॥

बुद्धिमान्को चाहें क्लेशभी रहै पर अपना जीवन शुद्ध रक्खे, इससे उसकी बड़ाई होती है और लोकोंमें हीनता नहीं होती ॥ ९ ॥

अभिलष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सिद्धैर्निषेवितम् ।
सेवेतसिद्धिमन्विच्छन् श्लाघ्यविन्ध्यमिवेश्वरम् ॥ १० ॥

विख्यात और सिद्धोंसे सेवित स्थिरपुण्यकी अभिलाषा करता हुआ सिद्धिकी इच्छासे विन्ध्यकी समान अपने श्लाघनीय ईश्वरकी सेवा करै १०

दुरापमपि लोकेऽस्मिन् यद्यद्वस्त्वभिवाञ्छति ।
तत्तदाप्नोपि मेधावी तस्मात्कार्य्यः समुद्यमः ॥ ११ ॥

कठिनतासेभी इस लोकमें प्राप्तहोनेयोग्य जिसजिस वस्तुकी इच्छा करता है, पुरुषार्थसे बुद्धिमान् उस उसको प्राप्त होता है इससे निरन्तर उद्यम करना चाहिये ॥ ११ ॥

आरिराधयिषुः सम्यगनुजीवी महीपतिम् ।
विद्याविनयशिल्पाद्यैरात्मानमुपपादयेत् ॥ १२ ॥

अनुजीवीवर्ग अपने राजाके आराधनकी भलीप्रकारसे इच्छा करता हुआ विद्या, विनय और शिल्पादिसे अपने आत्माको भूषित करै ॥ १२ ॥

कुलविद्याश्रुतौदार्य्यशीलविक्रमधैर्य्यवान् ।
वपुः सत्वबलारोग्यस्थैर्य्यशौचदयान्वितः ॥ १३ ॥

कुल, विद्या, शास्त्र, उदारता, शील, विक्रम, धैर्य, सत्व, बल, आरोग्य, स्थिरतायुक्त शरीर तथा शौच और दयासे संयुक्त होकर ॥ १३ ॥

पैशुन्यद्रोहसम्भेदशाठ्यलौल्यानृतातिगः ।
स्तम्भचापलहीनश्च सेवनं कर्त्तुमर्हति ॥ १४ ॥

और चुगली, द्रोह, भेदकराना, सहता, चंचलता, असत्यता, स्तम्भता, चपलता, इनसे रहित होकरही राजाकी सेवा होसकतीहै ॥ १४ ॥

दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता ।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम् ॥ १५ ॥

चतुराई, सभ्यता, दृढता, क्षमाशीलता, क्लेशमें सहनशीलता, सन्तोष, शील और उत्साह यह अनजीवियोंको शोभित करतेहैं ॥ १५ ॥

अर्थशौचपरो नित्यं गुणैरेतैः समन्वितः ।
भूतये भूतिसम्पन्नं साधु विश्वासयेन्नृपम् ॥ १६ ॥

नित्य अर्थशुद्धिमें तत्पर इन गुणोंसे सम्पन्न हुआ साधुसेवक ऐश्वर्य और कल्याणके निमित्त ऐश्वर्यसम्पन्न राजाको विश्वास दिलावे ॥ १६ ॥

प्रविश्य सम्यगुचिते स्थाने तिष्ठन् स वेषवान् ।
यथाकालमुपासीत राजानं विनयान्वितः ॥ १७ ॥

नम्र वेषधारण किये वा जैसा वेष उस अधिकारीका नियत है उस वेषको धारण किये राजस्थानमें प्रवेशकर उचित स्थानमें स्थित होकर विनयपूर्वक यथासमय राजाकी सेवा करै ॥ १७ ॥

परस्थानासनं क्रौर्य्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत् ।
विगृह्य कथनञ्चैव न कुर्य्याज्ज्यायसा सह ॥ १८ ॥

दूसरेका स्थान, आसन, क्रूरता, उद्धतपन और मत्सरका त्याग करै, कथनको ग्रहण कर अधिक बड़ोंसे वाद न करै ॥ १८ ॥

विप्रलम्भञ्च मायाञ्च दम्भं स्तेयञ्च वर्जयेत् ।
पुत्रेभ्यश्च नमस्कुर्य्याद्वल्लभेभ्यश्च भूपतेः ॥ १९ ॥

उपालम्भके वचन, माया, दम्भ और चोरीको न करै राजाके पुत्र और राजाके प्रियजनोंसेभी प्रणाम करै ॥ १९ ॥

न नर्म्मसचिवैः सार्द्धं किञ्चिदप्यप्रियं वदेत् ।
ते हि मर्म्माण्यभिघ्नन्ति प्रहासेनापि संसदि ॥ २० ॥

LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 2913

परिहास मंत्रियोंसे कुछभी अप्रिय न कहै, वेही सभामें हास्यपूर्वक मर्ममें प्रहार करते हैं ॥ २० ॥

भर्तुरन्वासने तिष्ठन् दृष्टिं नान्यत्र विक्षिपेत् ।
कुर्य्यात्किमयमित्यस्य तिष्ठेच्चास्यं विलोकयन् ॥ २१ ॥

स्वामीके पीछे निर्दिष्ट आसनपर स्थित हुआ इधर उधर दृष्टिको चलायमान न करै, और यह क्या कहैंगे इसप्रकार उस स्वामीकेही मुखकी ओर देखता हुआ स्थित रहै ॥ २१ ॥

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगाज्ञापयेति च ।
आज्ञां चावितथीकुर्य्याद्यथाशक्त्याऽविलम्बितम् ॥ २२ ॥

कौन है ऐसा कहनेपर मैंहूं क्या आज्ञाहै ऐसा कहे और यथाशक्ति शीघ्रही उस आज्ञाको सम्पादन करे विफल न करै ॥ २२ ॥

उच्चैःप्रहसनं कासं ष्ठीवनं कुत्सनंतथा ।
जृम्भणं गात्रभङ्गञ्च पर्वास्फोटञ्च वर्जयेत् ॥ २३ ॥

ऊँचे स्वरसे हँसना, बहुत खाँसना, खँकारना, कुत्सन (निन्दा) जंभाई लेना, अंगड़ाई लेना, ऊंगली चटकाना इतनी बातें राजसभामें कभी न करनी चाहिये ॥ २३ ॥

प्रविश्य सानुरागस्य चित्तं चित्तज्ञसम्मतः ।
समर्थयंश्च तत्पक्षं साधु भाषेत भाषितः ॥ २४ ॥

सभामें प्रवेश करके प्रेमपूर्वक स्वामीके चित्तकी वृत्तिको देखकर उनके पक्षकोही समर्थन करताहुआ पूँछनेपर शुभवचन बोले ॥ २४ ॥

तन्नियोगेन वा ब्रूयादर्थं सुपरिनिश्चितम् ।
सुखप्रवृद्धगोष्ठीषु विवादे वादिनां मतम् ॥ २५ ॥

अथवा स्वामीके आज्ञा देनेपर निश्चित अर्थको बोले और जब सुखवृद्धिकारी गोष्ठी होरहीहो तब उस विवादमें वादियोंके मतको ॥ २५ ॥

विजानन्नपि न ब्रूयाद्भर्तुः क्षिप्तोत्तरं वचः ।
प्रवीणोऽपि हि मेधावी वर्जयेदभिमानिताम् ॥ २६ ॥

जानकरभी न कहै, स्वामीके पूँछे विना कभी शीघ्र उत्तर न दे, प्रवीणता और बुद्धिमत्ताका अभिमान न करै ॥ २६ ॥

यदप्युच्चैर्विजानीयान्नीचैस्तदपि कीर्त्तयेत् ।
कर्म्मणा तस्य वैशिष्ट्यं कथयेद्विनयान्वितः ॥२७॥

जो बात विशेषतासेभी जानीगई हो उसेभी शनैःशनैः नम्रतासे कथन करै, विनययुक्त होकर कर्मसेही उसकी श्रेष्ठता सम्पादन करै ॥ २७ ॥

आपद्युन्मार्गगमने कार्य्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात्कल्याणभाषितम् ॥ २८ ॥

स्वामीके आपदग्रस्त होने, कुमार्गमें चलने तथा कार्यका काल व्यतीत होता देखे तो, हितकी इच्छावाला कल्याणके वचनोंको विनापूँछे भी कहे२८

प्रियं तथ्यञ्च पथ्यञ्च वदेद्धर्मार्थमेव च ।
अश्रद्धेयमसत्यञ्च परोक्षं कटु चोत्सृजेत् ॥ २९ ॥

प्यारे, सत्य, हितकारी, धर्मअर्थसंयुक्त वचन बोले, तथा श्रद्धाके अयोग्य असत्यवचन और परोक्षमें कटुवचनोंको त्यागदे ॥ २९ ॥

परार्थं देशकालज्ञो देशे काले च साधयेत् ।
स्वार्थञ्च स्वार्थकुशलः कुशलेनानुकारिणा ॥ ३० ॥

देशकालका जाननेवाला यथोचित देशकालमें परार्थको साधन करे, और स्वार्थकुशल, कुशल अर्थात् भले कार्योंको करता हुआ देशकालानुसार अपना स्वार्थभी साधे ॥ ३० ॥

गुह्यं कर्म्म च मन्त्रञ्च न भर्त्तुः सम्प्रकाशयेत् ।
विद्विष्टिञ्च विनाशञ्च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३१ ॥

स्वामीके गुप्त कर्म और मंत्रको किसीप्रकारभी प्रकाशित न करै, और विद्वेष तथा विनाशको मनसेभी न विचारै ॥ ३१ ॥

स्त्रीभिस्तद्दर्शिभिः पापैर्वैरिदूतैर्निराकृतैः ।
एकार्थचर्य्यां साहित्यं संसर्गञ्च विवर्जयेत् ॥ ३२ ॥

स्त्रीजन तथा उनके देखनेवाले पापीजन तथा वैरीके दूत, वा जिनका तिरस्कार कियाहो, एकही प्रयोजनवालोंका संसर्ग और साहित्यका निरन्तर सेवन, इनको त्यागन करदे ॥ ३२ ॥

वेषभाषानुकरणं न कुर्य्यात्पृथिवीपतेः ।
सम्पन्नोऽपि हि मेधावी स्पर्द्धेत न च तद्गुणैः ॥ ३३ ॥

राजाके वेष तथा बोलीका अनुकरण न करै, सम्पन्न होकरभी बुद्धिमान् उसके गुणोंकी स्पर्धा न करै ॥ ३३ ॥

रागापरागौ जानीयाद्भर्तुः कुशलकर्म्मकृत् ।
इङ्गिताकारलिङ्गाभ्यामिङ्गिताकारतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

चतुर कार्यका करनेवाला स्वामीकी प्रसन्नता और अप्रसन्नताको जाने, इन्द्रियोंकी चेष्टा और आकारके तत्त्वका जाननेवाला, इन्द्रियोंके आकार और चेष्टाओंको जाने ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृण्हाति चादरात् ।
दिशत्यासनमभ्यासे कुशलं परिपृच्छति ॥ ३५ ॥

जो देखतेही प्रसन्न होताहै, आदरसे उसके वाक्यको ग्रहण करताहै, समीप आसन देकर कुशल पूँछताहै ॥ ३५ ॥

विविक्तदर्शनस्थाने रहस्ये च न शङ्कते ।
तदर्थी तत्कृतामुच्चैराकर्णयति सत्कथाम् ॥ ३६ ॥

एकान्तदर्शन स्थान और रहस्य कथनमें जो शंका नहीं करताहै,

सेवकके अर्थ तथा उसके कर्तव्यको जो प्रगट होकर सुनताहै, उसके चरित्रको मन लगाकर सुनताहै ॥ ३६ ॥

श्लाघते श्लाघनीयेषु श्लाघ्यमानश्च नन्दति ।
कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टः कीर्त्तयेद्गुणान् ॥ ३७ ॥

जो तारीफ करनेयोग्योंमें बड़ाई करताहै, जो उसकी बड़ाई करे उससे प्रसन्न होताहै, दूसरी वार्ताओंमें उसको स्मरण करताहै और प्रसन्न होकर गुणोंको कीर्तन करताहै ॥ ३७ ॥

सहते पथ्यमप्युक्तं न निन्दामनुमन्यते ।
करोति वाक्यं तत्प्रोक्तं तद्वचो बहु मन्यते ॥ ३८ ॥

सेवकके युक्त तथा पथ्यवचनकोभी सहलेना और उसकी निन्दाको न मानना, उसके कहेहुए वचनको करना और उसके वचनको बहुत मानना यह तो स्वामीकी प्रसन्नताके लक्षण हैं ॥ ३८ ॥

उपकारेषु माध्यस्थ्यं दर्शयत्यद्भुतेष्वपि ।
तत्कृतं कर्म्म चान्येन कृतमित्यभिधीयते ॥ ३९ ॥

और अद्भुत उपकारोंमेंभी मध्यस्थता दिखानी, और उसके कियेहुए कर्मको दूसरेका कियाहुआ बताना ॥ ३९ ॥

विपक्षमुत्थापयति विनाशं चाप्युपेक्षते ।
कार्य्ये संवर्द्धयत्याशां फले च कुरुतेऽन्यथा ॥ ४० ॥

उसके विपक्षको उठाना और विनाशकी उपेक्षा करनी उसके कार्यपर आशा बढानी और उसका फल न देना ॥ ४० ॥

यद्वाक्यं मधुरं किञ्चित्तदप्यर्थेननिष्ठुरम् ।
आचरत्यात्मशंसासु परिवादश्च केवलम् ॥ ४१ ॥

जो सेवकका वाक्य मधुर हो तोभी अर्थसे उसको निष्ठुर मानलेना, और अपनी श्लाघामें सेवककी केवल निन्दाही करना ॥ ४१ ॥

अकोपोऽपि सकोपाभः प्रसन्नश्चापि निष्फलः ।
वदत्यकस्माद्व्रजति रूक्षश्च मुहुरीक्षते ॥ ४२ ॥

उसके क्रोधरहित होनेपरभी क्रोध मानलेना, वा स्वयं क्रोधरहित होनेपरभी उसके सन्मुख क्रोधकी आभा प्रगट करनी, प्रसन्न होनेपरभी फल न देना, उसके कथन करतेहुए भी अकस्मात् उठकर चलदेना, और रूखेपनसे वारंवार देखना ॥ ४२ ॥

आघट्टयति मन्त्राणि ब्रुवन् हास्यं प्रपद्यते ।
सम्भावयति दोषेण वृत्तिच्छेदं करोति च ॥ ४३ ॥

उसके गुप्तभेदको खोल देना, उसके बोलनेपर हँसदेना, सेवकपर दोषारोपण करना तथा उसकी आजीविकाका विच्छेद करदेना [जुरमाना तनख्वाह घटानी, वा मुअत्तल करदेना] ॥ ४३ ॥

साधूक्तमपि तद्वाक्यं समर्थयति चान्यथा ।
अपर्वणि कथाभङ्गं करोति विरसीभवन् ॥ ४४ ॥

उसके अच्छे कथनकोभी अन्यथा समझना, विना पर्वकेभी कथाभङ्ग करदेना तथा विरस रहना ॥ ४४ ॥

उपास्यमानः शयने सुप्तलक्ष्येण तिष्ठति ।
बलेन बोध्यमानोऽपि सुप्तवच्च विचेष्टते ॥ ४५ ॥

सोते समयसे वा देखनेकी सेजपर जागतेहुए सोनेकेसा आकार किये रहना और बलपूर्वक जगानेपरभी सोतेहुएकी समान रहना, यह विरक्त स्वामीके लक्षणहैं ॥ ४५ ॥

इत्यादि ह्यनुरक्तस्य विरक्तस्य च लक्षणम् ।
रक्ताद्वृत्तिं समीहेत विरक्तस्य विवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

इसप्रकार यह स्वामीके अनुरक्त और विरक्तके लक्षण कहे, अनुरक्त स्वामीसे वृत्तिकी इच्छा करे और विरक्तको त्यागदे ॥ ४६ ॥

निर्गुणं ह्यतिभर्त्तारमापत्सु न परित्यजेत् ।
ततः परतरो नास्ति य आपत्सूपतिष्ठति ॥ ४७ ॥

निर्गुणस्वामीकोभी आपत्तिके समय नहीं त्यागना चाहिये जो आपत्तिके समय सहायता करताहै उससे अधिक और कोई नहीं है ॥ ४७ ॥

सुस्थवृत्तेषु सत्वाद्या नैव यान्त्यभिलक्ष्यताम् ।
विपत्सु धर्म्मधुर्य्याणां तेषां नामातिरिच्यते ॥ ४८ ॥

स्वस्थवृत्तिमें सत्वआदिकी परीक्षा नहीं होसक्ती, विपत्तिकालमें धर्मकी धुर धारणकरनेवालोंके नामही रहजातेहैं ॥ ४८ ॥

श्लाघ्या चानन्दनीया च महतामुपकारिता ।
काले कल्याणमाधत्ते स्वल्पापि सुमहोदयम् ॥ ४९ ॥

बड़े पुरुषोंकी उपकारिता श्लाघनीय और आनन्दनीय होतीहै और वह थोडाभी उपकार समयपर कल्याण और महान् उदय करताहै ॥ ४९ ॥

अकार्य्ये प्रतिषेधश्च कार्ये चैवानुवर्त्तनम् ।
संक्षेपादिति सद्वृत्तं बन्धुमित्रानुजीविनाम् ॥ ५० ॥

अकार्यमें प्रवृत्त होनेपर निषेध करना और सुकार्यमें प्रवृत्ति करना, बन्धु मित्र और अनुजीवियोंकी यह संक्षेपसे सद्वृत्तिहै ॥ ५० ॥

पानस्त्रीद्यूतगोष्ठीषु राजानमभितश्चराः ।
बोधयेयुः प्रमाद्यन्तमुपायैर्नाड़िकादिभिः ॥ ५१ ॥

चरसेवक मद्यपान, स्त्री, द्यूत, गोष्ठीमें प्रमादको प्राप्तहुए राजाको नाडिकादि [अब इतना समय बीता] इसप्रकार घड़ीके संकेतादि उपायोंसे सावधान करे ॥ ५१ ॥

राजानं येऽत्युपेक्षन्ते सज्जमानं विवर्त्मसु ।
ते गच्छन्त्यकृतात्मानः सह तेन पराभवम् ॥ ५२ ॥

जो कुमार्गमें पड़ते हुए राजाकी उपेक्षा करतेहैं वह अकृतात्मा उस स्वामीके सहित तिरस्कारको प्राप्त होतेहैं ॥ ५२ ॥

जयाज्ञापय जीवेति नाथ देवेति चादरात् ।
आज्ञामस्य प्रतीक्षन्तो भृत्याः कुर्युरुपासनम् ॥ ५३ ॥

जो भृत्य जय, आज्ञादीजिये, जय जीव, नाथ, देव, इसप्रकारसे स्वामीकी आज्ञा प्रतीक्षा करतेहुए उपासना करतेहैं ॥ ५३ ॥

भर्त्तुश्चित्तानुवृत्तित्वं सद्वृत्तमनुजीविनाम् ।
रक्षांस्यपि हि गृह्यन्ते नित्यं च्छन्दानुवर्त्तिभिः॥५४॥

तथा स्वामीके चित्तके अनुसार वर्तते हैं यह अनुजीवियोंकी सद्वृत्ति है, मनुष्यकी तो बातही क्याहै नित्यकी सेवासे राक्षसभी ग्रहण करलिये जाते हैं ॥ ५४ ॥

धीसत्वोद्योगयुक्तानां किं दुरापं महात्मनाम् ।
छन्दानुवर्त्तिनां लोके कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५५ ॥

बुद्धि, बल और उद्योगसे युक्त महात्माओंको कौन वस्तु दुर्लभहै, तथा वशीभूत रहनेवाले और प्रियवादियोंको कौन दूसराहै कोई नहीं सब अपनेही हैं ॥ ५५ ॥

अलसस्याल्पतोषस्य निर्विद्यस्याकृतात्मनः ।
प्रदानकाले भवति मातापि हि पराङ्मुखी ॥ ५६ ॥

आलसी, थोड़ेहीमें सन्तोष करनेवाले, विद्यारहित अकृतात्मा पुरुषको दुग्धादि देनेमें माताभी पराङ्मुख होती है औरकी तो कौन कहै ॥५६॥

ये शूरा येऽपि विद्वांसो ये च सेवाविपश्चितः ।
तेषामेव विकाशिन्यो भोग्या नृपतिसम्पदः ॥ ५७ ॥

जो शूर, जो विद्वान् और जो सेवाकरनेमें पंडितहैं उन्हींको राजाकी सम्पत्ति भोगके लिये प्राप्त होतीहै ॥ ५७ ॥

अप्रियोऽपि हि पथ्यः स्यादितिवृद्धानुशासनम् ।
वृद्धानुशासने तिष्ठन् प्रियतामधिगच्छति ॥ ५८ ॥

वृद्धोंने यह बात कहीहै कि, अप्रियवचनही हितकारी होताहै, जो वृद्धोंकी आज्ञामें चलताहै वह प्रियताको प्राप्त होताहै ॥ ५८ ॥

आजीव्यः सर्वभूतानां राजा पर्ज्जन्यवद्भुवि ।
निराजीव्यं त्यजन्त्येनं शुष्कवृक्षमिवाण्डजाः ॥५९॥

राजा मेघोंकी समान भूमिमें सब प्राणियोंको आजीविका देनेवाला होता है, और जो आजीविका नहीं देता उसको सबकोई इसप्रकार त्यागकर जाते हैं जिसप्रकार पक्षी सूखे पेड़को त्यागदेते हैं ॥ ५९ ॥

कुलं वृत्तञ्च शौर्य्यञ्च सर्व्वमेतन्न गण्यते ।
दुर्वृत्तेऽप्यकुलीनेऽपि जनो दातारि रज्यते ॥ ६० ॥

कुलचरित्र, शूरता उसमें यह कुछभी नहीं गिनीजाती दुश्चरित्र तथा अकुलीन दातासेभी यह प्राणी अनुराग करते हैं ॥ ६० ॥

लक्ष्मीरेवान्वयो लोके न लक्ष्म्याः परतोऽन्वयः ।
यस्मिन् कोषो बलञ्चैव तस्मिँल्लोकोऽनुगच्छति॥६१॥

लोकमें लक्ष्मीही वंशहै लक्ष्मीके परत्व वंश नहीं है, जिसमें कोष और बलहै वह लोक उसीमें अनुराग करताहै ॥ ६१ ॥

उत्थिता एव पूज्यन्ते जनाः कार्य्यार्थिभिर्नरैः ।
शत्रुवत् पतितं कोऽनुवन्दते मानवं पुनः ॥ ६२ ॥

कार्यअभिलाषी पुरुषोंद्वारा उदयको प्राप्तहुए पुरुष पूजेजातेहैं और शत्रुकी समान पतितमनुष्यकी कौन वन्दना करताहै ॥ ६२ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं ज्वलन्तमुपसर्पति ।
क्षीणक्षीरां निराजीव्यां वत्सस्त्यजति मातरम् ॥६३॥

धनकी इच्छाकरनेवाला यह लोक प्रज्वलित पुरुषकीभी सेवा करताहै और दुग्धहीन जीविका न देनेवाली माताको बछडाभी त्यागदेताहै॥६३॥

अहापयन्नृपः कालं भृत्यानामनुजीविनाम्।
कर्म्मणामानुरूप्येण वृत्तिं समनुकल्पयेत् ॥ ६४ ॥

राजाको उचितहै कि, सेवक अनुजीवियोंकी वृत्ति दानका समय न व्यतीत करै उनके कर्मके समान वृत्तिकी कल्पना न करै ॥ ६४ ॥

काले स्थाने च पात्रे च नहि वृत्तिं विलोपयेत्।
एतद्वृत्तिविलोपेन राजा भवति गर्हितः ॥ ६५ ॥

काल स्थान और पात्रमें वृत्तिका कभी लोप नकरै इस वृत्तिके लोपसे राजाकी निन्दा होतीहै ॥ ६५ ॥

अपात्रवर्षणं जातु न कुर्य्यात्सद्भिगर्हितम्।
अपात्रवर्षणादन्यत्किं स्यात्कोषक्षयादृते ॥ ६६ ॥

सत्पुरुषोंसे निन्दित अपात्रमें राजा कभी दान न करै, अपात्रमें दान करनेसे कोशक्षयके सिवाय और क्या लाभहै ॥ ६६ ॥

कुलं विद्यां श्रुतं शौर्य्यं सौशील्यं भूतपूर्वताम्।
वयोऽवस्थाञ्च संप्रेक्ष्य आद्रियेत महात्मवान्॥ ६७ ॥

कुल, विद्या, शास्त्र, शूरता, सुशलिता उसके पूर्व चरित्र वा कुल, वय, अवस्थाको देखकर महात्माको आदर करना चाहिये ॥ ६७ ॥

कुलीनान्नावमन्येत सम्यग्वृत्तान्मनस्विनः।
त्यजन्त्येतेवमन्तारं घ्नन्ति वा मानहेतुना ॥ ६८ ॥

बुद्धिमान्को उचितहै कि, भलीवृत्तिवाले कुलीनपुरुषोंका कभी तिरस्कार न करै यह तिरस्कार करनेवालेको त्यागदेते हैं वा मानके कारण मारडालतेहैं ॥ ६८ ॥

गुणैरुदारैः संयुक्तान् प्रोन्नयेन्मध्यमाधमान् ।
महत्वं प्राप्नुवन्तस्ते वर्द्धयन्ति नरेश्वरम् ॥ ६९ ॥

उदारगुणोंसे संयुक्त मध्यम और अधम पुरुषोंकी उन्नति करनी चाहिये; यह महत्वको प्राप्तहोकर राजाकी वृद्धि करतेहैं ॥ ६९ ॥

उत्तमाभिजनोपेतान् न नीचैः सह वर्द्धयेत् ।
कृशोऽपि हि विवेकज्ञो याति संश्रयणीयताम् ॥७०॥

उत्तमगुणवालोंकी नीचगुणवालेजनोंकेसाथ वृद्धि नकरै, कृशताको प्राप्त-हुआभी विवेकीपुरुष राजाके आश्रयको प्राप्तहोताहै इसमें सन्देह नहीं॥७०॥

निरालोके हि लोकेऽस्मिन्नासते तत्र पण्डिताः ।
जात्यस्य हि मणेर्यत्र काचेन समता मता ॥ ७१ ॥

अन्धकारवाले अज्ञानीके समीप पंडितजन स्थिति नहीं करतेहैं जहां जातिसंज्ञमणि और कांचका समान वर्ताव किया जाता है ॥ ७१ ॥

विश्राम्यन्ति महात्मानो यत्र कल्पतराविव ।
स श्लाघ्यं जीवति श्रीमान् सत्यं भोगफलाः श्रियः॥७२॥

जिस राजामें सज्जनपुरुष कल्पवृक्षके समान विश्राम पातेहैं वह श्री-मान् राजा बड़ाईको प्राप्त होता हुआ जीताहै और उसे सत्यस्वरूप लक्ष्मी भोग्यफलकी करनेवाली होतीहै ॥ ७२ ॥

लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां लोके विकाशिन्या च किन्तया ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च विश्रब्धं या न भुज्यते ॥ ७३ ॥

संसारमें उस लक्ष्मीवालेकी प्रकाशित लक्ष्मीसे क्या फल है जिसको बन्धु और सुहृज्जन निष्कण्टक भोगनहींसकते ॥ ७३ ॥

आपद्द्वारेषु सर्वेषु कुर्य्यादाप्तान् परीक्षितान् ।
आददीत धनं तेभ्यो भास्वानस्रैरिवोदकम् ॥ ७४ ॥

राजाको उचित है कि, सम्पूर्ण आपत्तिके द्वारमें परीक्षा किये आप्त पुरुषोंको नियुक्त करै, और जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे जल ग्रहण करता है, इसप्रकार उनसे थोडा थोड़ा धन ग्रहण करै ॥ ७४ ॥

अभ्यस्तकर्म्मणस्तज्ज्ञान् शुचीन् सुज्ञानसम्मतान् ।
कुर्य्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्वकर्म्मसु ॥ ७५ ॥

सम्पूर्ण राजकाजमें उस २ कर्मके अभ्यासी उसको विशेष जाननेवाले शुचि ऋणरहित अच्छे ज्ञानमें सम्मत उद्योगसे सम्पन्न अध्यक्षोंको नियत करै७५॥

यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत् ।
अशेषविषयप्राप्ताविन्द्रियार्थ इवेन्द्रियम् ॥ ७६ ॥

जो जिस कार्यको जानताहो उसको उसी कार्यमें नियुक्त करै सम्पूर्णविषयको प्राप्तहोनेवाली इन्द्रियां जैसे अपने २ विषयकोही प्राप्त होतीहैं ॥७६॥

कोष्ठागारेऽभियुक्तः स्यात्तदायत्तं हि जीवितम् ।
नात्ययञ्च व्ययं कुर्य्यात्प्रत्यवेक्षेत चान्वहम् ॥७७॥

जो कोष्ठागार (खजाना) में नियुक्त है जीवन उसीके अधीनहै उसकी निरन्तर परीक्षा करतारहै और अधिक व्यय न करै ॥ ७७ ॥

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम् ॥ ७८ ॥

कृषि, व्यापारमार्ग, किला सेतु हस्तिबन्धनस्थान, खानसे मणिरत्नधनका आगम, शून्यस्थानोंका बसाना ॥ ७८ ॥

अष्टवर्गमिमं साधुस्वच्छवृत्तो विवर्द्धयेत् ।
जीवनार्थमिहाजीव्यैः कर्त्तव्यः करणाधिकैः ॥७९॥

इन आठ वर्गोंको साधुतापूर्वक स्वच्छ वृत्तिसे बढावै और सेवक आदिके आजीवनके निमित्त अनेक कार्यालय कल्पना करै ॥ ७९ ॥

तथा यया प्रवर्त्तेत वृत्त्या क्षीणोऽपि पार्थिवः ।

तस्यां तस्यां न संरोधं कुर्य्यात्पण्योपजीविनाम् ॥ ८० ॥

क्षीणधनवाला भी राजा इस प्रकारकी वृत्तिसे वर्ते कि व्यापारसे आजीविकावालोंका उस उस कार्यमें किसीप्रकार विघ्न न हो ॥ ८० ॥

यथा रक्षेच्च निपुणं सस्यं कण्टकिशाखया ।
फलाय लगुडः कार्य्यस्तद्वद्भोग्यमिदं जगत् ॥ ८१ ॥

जिसप्रकार चतुर पुरुष कांटोंकी बाड़से खेतीकी रक्षा करताहै और फलप्राप्तिके निमित्त एक लकड़ी रखताहै इसप्रकार राजाको इस जगत्की रक्षा और भोग करना चाहिये ॥ ८१ ॥

आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥ ८२ ॥

राजकर्मचारी, चोर, शत्रु, राजाके प्रियवर्ग और लोभीराजा, इन पाँचोंसे प्रजाको भय रहताहै ॥ ८२ ॥

पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम् ।
आददीत धनं काले त्रिवर्गपरिवृद्धये ॥ ८३ ॥

राजाको यह पांचों प्रकारका भय दूर करना चाहिये और धर्म अर्थ कामकी वृद्धिके लिये समयपर प्रजासे धनग्रहण करना चाहिये ॥ ८३ ॥

यथा गौः पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलार्थिना ॥ ८४ ॥

जैसे गौ पाली जातीहै और समयपर दूध देतीहै इसीप्रकार पालित हुई प्रजा समयपर धन देतीहै जैसे पुष्पफलकी इच्छावाले लताको सींचते बढाते पीछे समयपर फल फूल पातेहैं ॥ ८४ ॥

आस्रावयेदुपचितान् साधु दुष्टव्रणानिव ।
आमुक्तास्ते च वर्त्तेरन् वह्नाविव महीपतौ ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रणोंकी समान पकेहुए धनसे समृद्ध पुरुषोंको निचोडले अन्यथा

वे दुष्टस्वभाववाले अग्निके समान राजामें वर्ताव करते हैं ॥ ८५ ॥

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति ये पापाः पृथिवीपतौ ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गा मूढचेतसः ॥ ८६ ॥

जो पापात्मा राजाका थोड़ा भी अपकार करते हैं वे मूढबुद्धि अग्निमें पतङ्गके समान भस्म होजातेहैं ॥ ८६ ॥

संवर्द्धयेत्सदा कोषमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम् ।
काले चास्य व्ययं कुर्य्यात्त्रिवर्गपरिवृद्धये ॥ ८७ ॥

आप्त तथा उस कार्यके ज्ञाता पुरुषोंसे खजानेकी सदा वृद्धि करै और धर्म अर्थ कामकी वृद्धिके लिये समयपर व्यय करै ॥ ८७ ॥

धर्म्मार्थं क्षीणकोषस्य कृशत्वमपि शोभते ।
सुरैः पीतावशेषस्य शरद्धिमरुचेरिव ॥ ८८ ॥

यदि धर्मके निमित्त कोष क्षीण होगया हो तो उस क्षीणकोषकी भी शोभा है जिसप्रकार शरदूमें देवताओंसे अमृत पीलिये जानेसे भी क्षीण हुए चन्द्रमाकी शोभा होतीहै ॥ ८८ ॥

बृहस्पतेरविश्वासा इति शास्त्रार्थनिश्चयः ।
अविश्वासी तथा च स्याद्यथाच व्यवहारवान् ॥ ८९ ॥

बृहस्पतिका भी विश्वास न करै यह शास्त्रके अर्थका निश्चय है पर इतना अविश्वासी हो जितना कि, व्यवहारवाले पुरुष होतेहैं ॥ ८९ ॥

विश्वासयेदविश्वस्तान् विश्वस्तान्नातिविश्वसेत् ।
यस्मिन्विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥ ९० ॥

अविश्वासी पुरुषोंको विश्वास दिलावै और विश्वासियोंपर भी अधिक विश्वास न करै जिसपर राजाका विश्वास होजाताहै वही ऐश्वर्यका पात्र हो जाताहै ॥ ९० ॥

प्रादुर्भवन्त्यर्थसमं यस्माच्चित्तान्यनुक्षणम् ।

तस्माद्योगीव सततं तानि पश्येत्समाहितः ॥ ९१ ॥

जिसकारण कि, अर्थके साथही निरन्तर चित्तोंका नवीन प्रादुर्भाव होता है इसकारण योगीके समान सावधान होकर निरन्तर चित्तके विकारोंको देखता रहै ॥ ९१ ॥

अनुगतपरितोषितानुजीवीमधुरवचश्चरितानुरक्तलोकः ।
सुनिपुणपरमाप्तसक्ततन्त्रोभवतिनृपःसुचिरंप्रदीप्तरश्मिः ९२

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्वाम्यनुजीविवृत्तं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

जिसने अनुगामी और अनुजीवियोंको सन्तुष्ट करलियाहै तथा मधुर वचनोंसे लोकोंको रंजित कियाहै और चतुर तथा आप्तपुरुषोंकी आज्ञा मानी है वह राजा सूर्यके समान प्रभावशाली होकर चिरकालतक राज्य करताहै ॥९२॥

इति श्रीकामन्दकीय नीतिसारे भाषाटीकायां स्वाम्यनुजीविवृत्तं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६.

लोके वेदे च कुशलः कुशलैः परिवारितः ।
आदृतश्चिन्तयेद्राज्यं स बाह्याभ्यन्तरं तथा ॥ १ ॥

लोक और वेदमें कुशल कुशलजनोंसे परिचारित हुआ तथा आदरको प्राप्तहुआ राजा बाहर और भीतर राज्यकी चिन्ता रक्खै ॥ १ ॥

आभ्यन्तरं शरीरं स्वं बाह्यं राष्ट्रमुदाहृतम् ।
अन्योन्याधारसम्बन्धादेकमेवेदमिष्यते ॥ २ ॥

इसमें आभ्यन्तर अपना शरीरहै और बाहरी राज्य कहाहै, परस्पर आधारके सम्बन्धसे यह दोनों एकही कहे हैं ॥ २ ॥

राज्याङ्गानान्तु सर्वेषां राष्ट्राद्भवति सम्भवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं प्रसाधयेत् ॥ ३ ॥

राज्यसेही सम्पूर्ण राज्यके अंगोंका सम्भव होताहै, इससे सब प्रकारके यत्नोंसे राजा राज्यकी रक्षाकरे ॥ ३ ॥

लोकानुग्रहमन्विच्छन् शरीरमनुपालयेत् ।
राज्ञः संशरणं धाम शरीरं धर्म्मसाधनम् ॥ ४ ॥

और लोकके अनुग्रहकी इच्छा करताहुआ अपने शरीरकी रक्षाकरै, तथा राजाके आश्रयका स्थान और धर्मका साधन शरीर है ॥ ४ ॥

धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा महीभुजः ।
तस्मादसाधून् पापिष्ठान्निघ्नन्पापैर्न लिप्यते ॥ ५ ॥

ऋषितुल्य राजाओंने धर्मसम्बन्धिनी हिंसामें दोष नहीं कहाहै, इस कारण असाधु पापात्माओंके दण्ड देनेसे राजा पापमें लिप्त नहीं होताहै॥५॥

धर्म्मसंरक्षणपरो धर्म्मेणार्थं विवर्द्धयन् ।
ये ये प्रजा प्रबाधेरंस्ताञ्छिष्याच्च महीपतिः ॥ ६ ॥

धर्मकी रक्षामें तत्पर धर्मसे ही अर्थको बढातेहुए राजाको उचित है कि, जो जो प्रजामें बाध दे उन उनका उच्छेद वा शिक्षा करे ॥ ६ ॥

यमार्य्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः ।
स धर्म्मोयं विगर्हन्ति तमधर्म्मं प्रचक्षते ॥ ७ ॥

शास्त्रके ज्ञाता श्रेष्ठपुरुष जिस कर्मकी बडाई करतेहैं, वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म है ॥ ७ ॥

धर्म्माधर्म्मौ विजानन् हि शासनेऽभिरतः सताम् ।
प्रजां रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

राजा धर्म अधर्मको जानताहुआ सत्पुरुषोंके मार्गमें स्थितहुआ, भली-प्रकार प्रजाकी रक्षाकरे और विद्रोहियोंको नष्टकरै ॥ ८ ॥

राज्योपघातं कुर्वाणा ये पापा राजवल्लभाः ।
एकैकशः संहता वा दूष्यांस्तान् परिचक्षते ॥ ९ ॥

जो पापी राजप्रियपुरुष राज्यका घात करतेहैं एक २ वा मिलेहुए उन सबको दूषणीय कहाहै ॥ ९ ॥

दूष्यानुपांशु दण्डेन हन्याद्राजाऽविलम्बितम् ।
अदृश्यं वा प्रकाशं वा लोकविद्वेषमागतान् ॥ १० ॥

राजा शीघ्रही ऐसे दूष्यपुरुषोंको दण्डसे नष्ट करे और प्रगट वा अप्रगट लोकोंका विद्वेष करनेवाले ॥ १० ॥

राजा रहसि दूष्यं हि दर्शनायोपमन्त्रयेत् ।
गूढशस्त्रा विशेयुस्तत्पश्चादासंज्ञिता नराः ॥ ११ ॥

दूष्यपुरुषोंको राजा एकान्तमें देखनेकी इच्छाकरे और उनके देखनेवाले पुरुष शस्त्र छिपाकर उनके पीछे गमन करें और उनकी परीक्षा करें ॥ ११ ॥

विश्वस्तांस्तान्विचिन्वीयुर्द्वाःस्था कक्षान्तरं गतान् ।
ते शस्त्रग्राहका ब्रूयुः प्रयुक्ताः स्म इति स्फुटम् ॥ १२ ॥

और विश्वास दिलाकर उनकी खोजकरै, और दूसरे स्थानमें युद्धस्थलमें स्थित होकर वे शस्त्रके ग्रहण करनेवाले कहैं कि, हम तुम्हारे नष्टकरनेको नियुक्त हुए हैं तुम्हारा यह अपराध है इसप्रकार प्रगट कहैं ॥ १२ ॥

इति दूष्यांस्तु संदूष्य प्रजानामभिवृद्धये ।
विनयन् प्रियउत्कर्षं राजशल्यं समुद्धरेत् ॥ १३ ॥

इसप्रकार प्रजाकी वृद्धिके निमित्त दूषित पुरुषोंके दोषकी घोषणा करके नष्ट करै और विनीत प्रियजनकी उत्कर्षता साधन करताहुआ राज्यके कण्टकोंको नष्ट करै ॥ १३ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः परिपुष्टोऽभिरक्षितः ।
काले फलाय भवति साधु तद्वदियं प्रजा ॥ १४ ॥

जैसे सूक्ष्म बीजांकुरभी रक्षाकरनेसे पुष्ट होजाता है और समयपर फल देता है इसीप्रकार रक्षित प्रजाभी समयपर फल देती है ॥ १४ ॥

उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते ।
तस्माद्यथार्हतो दण्डं नयेत्पक्षमनाश्रितः ॥ १५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे कण्टकशोधनं नाम
षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

तीक्ष्ण दण्डसे प्रजा उद्वेगको प्राप्त होती है मृदुदण्डसे तिरस्कार करनेलगती है, इसकारण यथा अपराध मध्यमा वृत्तिसे किसीका पक्ष न लेता हुआ राजा दण्डविधान करै ॥ १५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां कण्टकशोधनं नाम
षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७.

प्रजात्मश्रेयसे राजा कुर्वीतात्मजरक्षणम् ।
लोलुभ्यमानास्तेऽर्थेषु हन्युरेनमरक्षिताः ॥ १ ॥

प्रजा और अपने कल्याणके निमित्त राजा अपने पुत्रकी रक्षा करै, यदि वे पुत्रादि रक्षित नरक्खेजाँय तो वही अर्थोंमें लुब्ध होकर राजाको मारदेते हैं॥ १॥

राजपुत्रा मदोन्मत्ता गजा इव निरङ्कुशाः ।
भ्रातरं वा विनिघ्नन्ति पितरं वाऽभिमानिनः ॥ २ ॥

मदोन्मत्त हुए राजपुत्र निरंकुश हाथीके समान अभिमानी होकर भ्राता वा पिताको मारडालतेहैं ॥ २ ॥

राजपुत्रैर्मदोपेतैः प्रार्थ्यमानमितस्ततः ।
दुःखेन रक्ष्यते राज्यं व्याघ्राघातमिवामिषम् ॥ ३ ॥

मदोन्मत्त राजपुत्रोंकी अनेक विषयोंकी प्रार्थनासे राज्यकी रक्षा बड़ी कठिनाईसे होती है, जैसे व्याघ्रसे सूँघे मांसकी व्याघ्रके होते रक्षा नहीं होसकती ॥ ३ ॥

रक्ष्यमाणा यदि च्छिद्रं कथञ्चित् प्राप्नुवन्ति ते ।
सिंहशावा इव घ्नन्ति रक्षितारमसंशयम् ॥ ४ ॥

रक्षित हुएभी वे यदि किसीप्रकारसे किसी छिद्रको देखलेते हैं तो सिंहके बच्चेकी समान निःसन्देह अपने रक्षकको भी मारडालतेहैं ॥ ४ ॥

विनयोपग्रहान्भृत्यैः कुर्व्वीत नृपतिः सुतान् ।
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विनश्यति ॥ ५ ॥

राजाको उचित है कि, अपने भृत्योंद्वारा राजपुत्रोंको विनय शिखावै, यदि कुमार विनीत न होगा तो वह कुल शीघ्रही नष्ट होजायगा ॥ ५ ॥

विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।
दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्व्वीत सुखबन्धनम् ॥ ६ ॥

नम्र अपने औरस पुत्रको जो सवर्ण भार्यासे उत्पन्न हुआ हो राजा युवराजमें अभिषेक करै, यदि दुर्विनीतहो तो जिसप्रकार दुष्टहाथीको बन्धनमें करतेहैं, इसप्रकार उसको सुखबन्धनमें डाले जिससे कठिनाई न माने ६॥

राजपुत्रः सुदुर्वृत्तः परित्यागं हि नार्हति ।
क्लिश्यमानः स पितरं परानाश्रित्य हंति हि ॥ ७ ॥

दुर्वृत्तिवाले राजपुत्रका भी त्याग नहीं करना चाहिये, यदि उसे निकालाजायगा तो वह क्लेशित हो शत्रुका आश्रय कर पिताको मारदेगा ॥७॥

व्यसने सज्जमानं हि क्लेशयेद्व्यसनाश्रयैः ।
तथा च क्लेशयेदेनं यथा स्यात्पितृगोचरः ॥ ८ ॥

जब वह व्यसनमें पडा हो तो व्यसनके आश्रयीभूत पुरुषोंद्वार इसको क्लेशितकरावे और इसको इसप्रकारसे क्लेश दे जिसप्रकार यह पिताकी

दृष्टिगोचर हो अर्थात् पिताकी सहायता क्लेश दूर होनेको चाहै ॥ ८ ॥

याने शय्यासने पाने भोज्ये वस्त्रे विभूषणे ।
सर्व्वत्रैवाप्रमत्तः स्याद्वर्ज्जेत विषदूषितम् ॥ ९ ॥

सवारी, शय्या, आसन, पान, भोजन, वस्त्र, भूषण इतनी वस्तुओंके व्यवहारमें राजा सदा अप्रमत्त रहै । इनमें विष मिलादियाजाताहै इसलिये पहँचानकर विषदूषितको त्यागदे ॥ ९ ॥

विषघ्नैरुदकैः स्नातो विषघ्नमणिभूषितः ।
परीक्षितं समश्नीयाज्जाङ्गलविद्भिषग्वृतः ॥ १० ॥

विषके दूरकरनेवाले जलोंसे प्रतिदिन स्नानकरे विषघ्नमणिसे भूषित हुआ राजा जाङ्गलविषके जाननेवाले वैद्योंसे युक्तहुआ परीक्षा करके भोजन करे ॥ १० ॥

भृङ्गराजः शुकश्चैव शारिका चेति पक्षिणः ।
क्रोशन्ति भृशमुद्विग्ना विषपन्नगदर्शनात् ॥ ११ ॥

भृङ्गराज (पक्षिविशेष) तोता,मैना यह पक्षी विष और सर्पको देखकर अत्यन्त उद्विग्न होकर चिल्लाने लगतेहैं ॥ ११ ॥

चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् ।
सुव्यक्तं माद्यति क्रौञ्चो म्रियते कोकिलःकिल ॥ १२ ॥

विषदर्शनसे चकोरके नेत्र विशेष लाल होजातेहैं, क्रौञ्च प्रगटही मत्त होजाताहै, और कोकिल विषदर्शनसे मरजाताहै ॥ १२ ॥

नित्यं जीवस्य च ग्लानिर्जायते विषदर्शनात् ।
एषामन्यतमेनापि समश्नीयात्परीक्षितम् ॥ १३ ॥

और नित्यही विषदर्शनसे जीवमात्रको ग्लानि होजातीहै, इनके सिवाय अन्य उपायोंसेभी परीक्षा करके भोजन करे ॥ १३ ॥

मयूरपृषतोत्सर्गे न भवन्ति भुजङ्गमाः ।

तस्मान्मयूरपृषतौ भवने नित्यमुत्सृजेत् ॥ १४ ॥

मोरकी पीठके पंख डालनेसे घरमें सर्प नहीं रहते, इससे घरमें नित्य मोरपंख पडे रहने चाहिये ॥ १४ ॥

भोज्यमन्नं परीक्षार्थं प्रदद्यात्पूर्वमग्नये ।
वयोभ्यश्च ततो दद्यात्तत्र लिङ्गानि लक्षयेत् ॥ १५ ॥

भोजनयोग्य अन्नकी परीक्षा करनेके निमित्त पहले अग्निको दे, और फिर पक्षियोंको देकर उनकी चेष्टा देखे ॥ १५ ॥

धूमार्चिर्नीलता वह्नेः शब्दस्फोटश्च जायते ।
अन्नेन विषदिग्धेन वयसां मरणम्भवेत् ॥ १६ ॥

यदि अग्निसे नीला धुआँ निकले और फूटनेके समान शब्दहो, और विषदग्ध अन्नसे पक्षी मरजाँय तो विषदग्ध अन्न जाने ॥ १६ ॥

अस्विन्नता मादकत्वमाशु शल्यं विवर्णता ।
अन्नस्य विषदिग्धस्य तथोष्मा स्निग्धमेचकः॥ १७॥

विषदूषित अन्नमें विरसता, मादकता, तत्काल शल्यका करदेना, विवर्णता, गरमी, स्याहीलिये चिकनाई होतीहै ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्याशु शुष्कत्वं क्वथने श्यामफेनता ।
गन्धस्पर्शरसाश्चैव नश्यन्ति विषदूषणात् ॥ १८ ॥

व्यञ्जनका शीघ्रही सूखजाना, पकानेमें काले फेन उठना, गन्ध, स्पर्श, रस, यह सबही विषदूषित अन्नके नष्ट होजातेहैं ॥ १८ ॥

छायाऽतिरिक्ता हीना वा स्याद्रसे विषदूषिते ।
दृश्यते राजिरूर्ध्वा च फेनमण्डलमेव च ॥ १९ ॥

विषदूषितं अन्नकी छाया भाफ अतिरिक्त वा हीन होती है, उसकी छाया ऊर्ध्वगामिनी होतीहै और फेन बहुत उठते हैं ॥ १९ ॥

रसस्य नीला पयसश्च ताम्रा मद्यस्य तोयस्य च कोकिलाभा ।
श्यामासरन्ध्राविषदूषितस्य मध्ये भवत्यूर्ध्वगता च लेखा ॥ २० ॥

विषदूषितरसकी लेखा नीली, दूधकी ताम्रवर्णकी, मद्य और जलकी कोकिलाके वर्णकी, तथा श्यामवर्णकी मध्यमें छिद्रवाली ऊर्ध्वगामिनी लेखा होतीहै ॥ २० ॥

आर्द्रस्य सर्वस्य भवेत्तु सद्यः प्रम्लानभावो विषदूषितस्य ।
पाकं विना क्राथविनीतभावःसश्यामता चेतिवदन्तितज्ज्ञाः २१

विषदूषित सम्पूर्ण आर्द्रवस्तु शीघ्रही मलीन होजातीहैं, और इसके जाननेवाले कहतेहैं कि, पाकके विनाही वह काथके समान सिकुडजाती हैं, और उन वस्तुओंमें श्यामता आजाती है ॥ २१ ॥

शुष्कस्य सर्वस्य विषोपदेहाद्विशीर्णता वाऽशुचिवर्णता च ।
खरं मृदु स्यान्मृदुनः खरत्वं वदन्ति के चाल्पकजन्तुघातम् २२

और सम्पूर्ण सूखी वस्तु विषके प्रयोगसे बिखरजाती वा अपवित्र रंगवाली अर्थात् कुरंगकी कठिन तीक्ष्णवस्तु कोमल होजाती और मृदु वस्तुमें कठिनता आतीहै, और जलमेंके छोटे २ जीव मरजातेहैं ॥ २२ ॥

प्रावारास्तरणानाञ्च श्याममण्डलकीर्णता ।
तन्तूनां पक्ष्मणां लोम्नां स्याद्ध्वंसश्च विषाश्रयात् ॥ २३ ॥

ओढने बिछानेके कपडोंमें विषप्रयोग होनेसे उसमें काले काले मण्डल घेरे २ होजातेहैं, तथा तन्तुडोरे पंख और ऊनमें विषप्रयोग होनेसे यह ध्वंस होजातेहैं ॥ २३ ॥

लोहानाञ्च मणीनाञ्च मलपङ्कोपदिग्धता ।
प्रभावस्नेहगुरुता वर्णस्पर्शवधस्तथा ॥ २४ ॥

लोह और मणिमें विषप्रयोग होनेसे उनपर मैला पंक होजाताहै, तथा प्रभाव, स्नेह, गुरुता, वर्ण और स्पर्श इन सबका नाश होताहै ॥ २४ ॥

मुखस्य श्यामवर्णत्वं त्वग्भेदो जृम्भणं मुहुः ।
स्खलनं वेपथुः स्वेद आवेगो दिग्विलोकनम् ॥ २५ ॥

विष देनेवालोंके मुखका शामवर्ण, त्वचाभेद, वारंवार जँभाईलेना, स्खलित होना, पसीना आना, शरीर काँपना, वेग होना, इधर उधर दिशाओंको देखना ॥ २५ ॥

स्वकर्म्मणि स्वभूमौ स्यादनवस्थानमेव च ।
लिङ्गान्येतानि निपुणो लक्षयेद्विषदायिनाम् ॥ २६ ॥

अपने कार्यमें न लगना, अपने आसनमें न बैठसकना, वारंवार उठना यह सब लक्षण विषदेनेवालोंके होते हैं इनको बुद्धिमान् देखले ॥ २६ ॥

औषधानि च सर्वाणि पानं पानीयमेव च ।
तत्कल्पकैः समास्वाद्य प्राश्नीयाद्भोजनानि च ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण औषधी पीनेके जल उनके बनानेवालोंको खवाकर फिर आप भोजन करै ॥ २७ ॥

प्रसाधनादि यत्किंचित्तत्सर्वं परिचारिकाः ।
उपनिन्युर्नरेन्द्राय सुपरीक्षितमुद्रितम् ॥ २८ ॥

और जितने ओढने, बिछौने, पहरने, धारण करनेकी सामग्रीहैं वह सब राजाके सेवक परिक्षा करके मुहर करके राजाके निमित्त दें ॥ २८ ॥

परस्मादागतं यच्च तत्सर्वञ्च परीक्षयेत् ।
सदा स्वेभ्यः परेभ्यश्च रक्ष्यो राजाऽभिरक्षिभिः ॥ २९ ॥

जितनी वस्तु दूसरोंसे आईहों तो उन सबकी परीक्षा करै, रक्षा करनेवाले पुरुषोंको राजाकी सदा अपने और परायोंसे रक्षा करनी चाहिये ॥ २९ ॥

यानं वाहनमारोहेज्ज्ञातं ज्ञातोपपादितम् ।
अविज्ञातेन मार्गेण सङ्कटेन च न व्रजेत् ॥ ३० ॥

अच्छीप्रकार परीक्षा करके और उसके ज्ञाताओंसे परीक्षा कराकर सवारीपर बैठे विना जाने तथा सङ्कटके मार्गकी ओरको गमन न करै॥ ३० ॥

दीक्षिताद्दष्टकर्म्माणमाप्तं वंशक्रमागतम् ।
संविभक्तश्च कुर्वीत जनमासन्नवर्तिनम् ॥ ३१ ॥

भलीप्रकार शीलस्वभाव देखेहुए तथा कर्मोंमें परीक्षा कियेहुए वंशपरंपरासे आये हुए शोभित जनको अपने समीप रक्खे॥ ३१ ॥

अधार्मिकांश्च क्रूरांश्च दृष्टदोषान्निराकृतान् ।
परेभ्योऽभ्यागतांश्चैव दूरादेतान् विवर्ज्जयेत् ॥ ३२ ॥

अधर्मी, क्रूर, दोष देखकर तिरस्कार कियेहुए, शत्रुओंके समीपसे आये हुए इन पुरुषोंको दूरसेही त्यागदे ॥ ३२ ॥

महावातसमुद्भूतामपरीक्षितनाविकाम् ।
अन्यनौ प्रतिबद्धां वा नोपेयान्नावमातुराम् ॥ ३३ ॥

जिससमय पवन अधिक चलरहाहो, जब विना परीक्षा वाले नाविक खेने वाले हों तथा दूसरेकी नौकाके समीप बँधी हुई नावमें आतुर होकर न चढै ३३

परितापिषु वासरेषु पश्यंस्तटलेखास्थितमात्मसैन्यचक्रम् ।
शुचिशोधितनक्रमीनजालंव्यवगाहेतजलंसुहृत्समेतः ॥ ३४ ॥

अधिक गरमीके दिनोंमें किनारेपर अपनी सेनाके लोगोंको नियत करके उनके देखतेहुए जलाशयको नाके और मच्छोंसे शोधितकर सुहृज्जनोंके संग नौकापर चढै ॥ ३४ ॥

गहनानि विवर्ज्जयन् विशुद्धं बहिरुद्यानवनं समभ्युपेयात् ।
विहरन्मधुरं वयोऽनुरूपं न च मायेद्विषयोपभोगरागात्॥ ३५॥

गहनस्थानोंको त्यागकर विशुद्ध बगीचोंमें सैरके निमित्त गमन करै और अपनी वयके समान जनोंमें शनैः २ विहार करता हुआ विषय भोग रागरंगमें मत्त न होजाय ॥ ३५ ॥

सुविनीतसुवेगपृष्ठयानः सुखगम्यासुचिताञ्च लक्ष्यसिद्ध्यै ।
सुपरीक्षितरक्षितान्तसीमां लघुकोष्ठस्तु मृगाटवीमुपेयात् ३६ ॥

जब मृगयाके निमित्त गमन करै तौ बडे शिक्षित शीघ्रगामी घोडे आदिपर चढै जो सुखसे लेजाय और लक्ष्यकी सिद्धिमें चतुरहो, उसपर चढकर गमन करै और जिधर जाना है उसकी सीमाको रक्षित और परीक्षितकरके लघु सामग्रीके साथ मृगयाके निमित्त गमनकरै ॥ ३६ ॥

कारयेद्भवनशोधनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः ।
आप्तशस्त्र्यनुगतःप्रविशेच्च संकटेषु गहनेषु न तिष्ठेत् ॥ ३७ ॥

पहली पहल भवनका शोधन कराले चाहैं अपनी माताहीके समीप जाना हो पीछे आप्त शस्त्रधारी पुरुषोंसे अनुगत हुआ प्रवेशकरै, संकट वा गहनस्थानमें स्थिति न करै ॥ ३७ ॥

पांशूत्कराकर्षिणि वाति वाते संसक्तधाराजलदे च मेघे ।
अत्यातपेचापितथाऽन्धकारेस्वस्थस्तुसन्नक्वचिदभ्युपेयात् ३८

जिस समय धूरी उठाये हुए पवन चलरही हो और मेघ मूशलधार जल वर्षताहो तथा बड़ी गरमी वा महाअन्धकार हो तौ स्वस्थतामें कभी ऐसे समय न गमन करै ॥ ३८ ॥

निर्गमे च प्रवेशे च राजमार्गे समन्ततः ।
प्रोत्सारितजनं गच्छेत्सम्यगाविष्कृतोन्नतिः ॥ ३९ ॥

जिससमय कहींसे आनाहो वा कहीं जाना हो तौ सब ओरसे राजा मार्गको स्वच्छ कर मनुष्योंका गमन आगम न रोककर उन्नति (शान) के साथमें गमन करै ॥ ३९ ॥

यात्रोत्सवसमाजेषु जलसम्बाधशालिनः ।
प्रदेशान्नावगाहेत नातिवेलञ्च सम्पतेत् ॥ ४० ॥

यात्रा उत्सव समाजोंमें तथा जलके समागममें बहुत करके न जाय,

और न अधिक समय लगावै अथवा कुसमय भ्रमण न करै ॥ ४० ॥

निषेवितो वर्षवरैः कञ्चुकोष्णीषधारिभिः ।
अन्तःपुरे च विचरेत्कुब्जकैरातवामनैः ॥ ४१ ॥

दण्ड हाथमें लिये पगडी और वरदी पहरे कुबड़े किरात और बौने पुरुषोंसे सेवित हुआ रनिवासमें विचरण करै ॥ ४१ ॥

नीचैरन्तः पुरामात्याः शुचयश्चित्तवेदिनः ।
शस्त्राग्निविषवर्जं हि नर्म्मयेयुर्महीपतिम् ॥ ४२ ॥

अन्तःपुरके पवित्र चरित्रवाले तथा राजाके चित्तकी वृत्ति जाननेवाले आमात्यजन नीचे मुख कियेहुए शस्त्र अग्नि विषके चिन्होंसे रहित वे सब राजाको नम्रभाषणसे सम्बोधन करैं ॥ ४२ ॥

अन्तर्वंशिकसैन्यश्च सन्नद्धं साधुसम्मतम् ।
रक्षेदायुक्तकुशलमन्तःपुरगतं नृपम् ॥ ४३ ॥

अन्तःपुरवाली सेना तयार और सजीहुई अन्तःपुरमें प्राप्त हुए साधु सम्मत कार्यकुशल राजाकी सब प्रकारसे रक्षा करै ॥ ४३ ॥

आशीतिकाश्च पुरुषाः पञ्चाशत्काश्च योषितः ।
बुध्येरन्नवरोधानां शौचमागारिकाश्च ये ॥ ४४ ॥

अस्सी पुरुष और पचास स्त्री रनवासके कार्य कर्ता नियुक्त होने चाहियें तथा स्थान झाडने बुहारने वालेभी इन्हींमेंसे हों ॥ ४४ ॥

रूपाजीवाः स्त्रियः स्नाताः परिवर्त्तितवाससः ।
राजानमुपतिष्ठेयुर्विशुद्धस्रग्विभूषणः ॥ ४५ ॥

पवित्र माला गहने तथा धुलेवस्त्र पहरे हुए स्नान किये हुए रूपाजीवा स्त्रियें राजाके साथ रनवासमें रहैं ॥ ४५ ॥

कुहकैर्ज्जटिलैश्चैव मुण्डैश्चाभ्यन्तरो जनाः ।

संसर्गं न क्वचिद्गच्छेद्बाह्यैर्दासीजनैः सह ॥ ४६ ॥

अन्तःपुरचारी जनोंसे कुहक (धूर्त) जटाधारी, मुण्डित, तथा बाहर फिरनेवाली दासीजनोंका संसर्ग कभी न होना चाहिये ॥ ४६ ॥

निर्गच्छेत्प्रविशेच्चापि सर्वश्चाभ्यन्तरो जनः ।
विज्ञातद्रव्यसञ्चारी कारणेनोपलक्षितः ॥ ४७ ॥

भीतर रहनेवाले सर्वत्र आ जा सकते हैं, पर वहां जांय तौ किसी चिन्हको लेकर जांय और उनके आने जानेका कारण विदित होना चाहिये ४७॥

न चानुजीविनं पश्येदकल्पं पृथिवीपतिः ।
अन्यत्रात्ययिकाद्रोगात् सर्वस्यैवातुरो गुरुः ॥ ४८ ॥

राजा अनुजीवियोंको कभी वरदी वेशके विना न देखै, केवल रोगका समय छोड देना कारण कि आतुर तो सबसे विशेष है ॥ ४८ ॥

स्नातोऽनुलिप्तसुरभिः स्रग्वी रुचिरभूषणः ।
स्नातां विशुद्धवसनां गच्छेद्देवीं सुभूषणाम् ॥ ४९ ॥

राजा अपनी महारानीके समीपमें स्नानकर सुगंधि लगाय माला पहरे सुन्दर भूषण धारण किये गमन करै और देवीभी स्नानकर सुन्दर वस्त्र पहरे अच्छे भूषण धारण किये रहै ॥ ४९ ॥

न हि देवीगृहं गच्छेदात्मीयात्सन्निवेशनात् ।
अत्यर्थवल्लभोऽपीह विश्वासं स्त्रीषु न व्रजेत् ॥ ५० ॥

अपनी निजस्थिति करनेके स्थानसे पटरानीके स्थानको गमन न करै कैसीभी प्रियहो परन्तु सर्वथा स्त्रीका विश्वास न करै ॥ ५० ॥

देवीगृहगतं भ्राता भद्रसेनममारयत् ।
मातुः शय्यान्तरे लीनः कारूषश्चौरसः सुतः ॥ ५१ ॥

देवीके घरमें प्राप्त हुए भद्रसेन राजाको उसके भ्राताने मारडाला और माताकी सेजमें छिपे हुए औरस पुत्रने अपने पिता कारूषको मारडाला ५१॥

लाजान् विषेण संयोज्य मधुनेति विलोभितः ।
देवी तु काशीराजेन्द्रं निजघान रहोगतम् ॥ ५२ ॥

खीलोंमें विष मिलाय मधुका लोभ देकर एकान्तमें उनकी रानीने स्वयं काशीराजको मारडाला ॥ ५२ ॥

विषदिग्धेन सौवीरं मेखलामणिना नृपम् ।
नूपुरेण च वैरन्त्यं जारूषं दर्पणेन च ॥ ५३ ॥

मेखलाकी मणिको विषसंयुक्त करके राजा सौवीरको उनकी स्त्रीने मारडाला नूपुरको विषसंयुक्त करके वैरन्त्यको और दर्पणसे जारूषकोमारा५३॥

वेण्यां शस्त्रं समाधाय तथा चापि विदूरथम् ।
अहिवृत्तं परिहरेच्छत्रौ चापि प्रयोजयेत् ॥ ५४ ॥

अपने केशपाशमें शस्त्र छिपाकर राजा विदूरथको उनकी रानीने मारा इससे इनका अधिक विश्वास न करै, सर्पवृत्तको छोडकर केवल अपना आकार दिखायेरहै जिससे वे भयभीतरहैं ॥ ५४ ॥

यस्य दाराः सुगुप्ताः स्युः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
सर्वभोगान्वितं तस्य हस्ते लोकद्वयं स्थितम् ॥ ५५ ॥

आप्त पुरुषों द्वारा जिसकी स्त्री रक्षित रहतीहै वही सब भोगोंसे युक्त है, और उसके हाथमें दोनों लोकहैं ॥ ५५ ॥

धर्म्ममिच्छन्नरपतिः सर्व्वान्दाराननुक्रमात् ।
गच्छेदनुनिशं नित्यं वाजीकरणबृंहितः ॥ ५६ ॥

वाजीकरण औषधियोंसे पुष्टहुआ राजा धर्मकी इच्छाकर क्रमसे सब स्त्रियोंके समीप गमन करै ॥ ५६ ॥

विचार्य्य कार्य्यावयवान् दिनक्षये विसृज्य लोकंप्रमदाहृतक्रियः।
आशस्त्रबन्धेनहिसाधुपाणिनास्वपेदसक्तं परमाप्तरक्षितः॥५७॥

सम्पूर्ण कार्यके विभागोंका विचार करके संध्यासमय एक मात्र शस्त्र-वाले हाथसे अधिकारी पुरुषोंको बिदाकर प्रमदाजनोंसे सेवित हो महलोंमें प्रवेशकरै और आप्त पुरुषोंसे रक्षितहुआ असक्तचित्तसे शयनकरै ॥ ५७ ॥

नयेन जाग्रत्यनिशं नरेश्वरे सुखं स्वपन्तीह निराधयः प्रजाः।
प्रमत्तचित्तेस्वपितीहसंयमात्प्रजागरेणास्य जगत्प्रबुध्यते ॥५८॥

जो राजा निरन्तर नीतिसे जागताहै उसकी प्रजा सुखसे सोतीहै उनको कोई बाधा नहीं होती और जो राजा प्रमत्तचित्तसे सोजाताहै इसकी प्रजाको जागतेही सवेरा होजाताहै ॥ ५८ ॥

इतिस्म पूर्वं मुनयो बभाषिरे नृपस्य राज्यस्य च साधु लक्षणम्।
तदेतदेवं परिपालयन्नयान्नरेश्वरःपालककल्पतां व्रजेत् ॥५९॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे पुत्ररक्षणमात्मरक्षणञ्च
नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इसप्रकार राजा और राजाके लक्षण पूर्वकालमें मुनियोंने कहे हैं सो इस प्रकारसे राजनीतिको पालन करताहुआ राजा प्रजापतिके समान होताहै५९॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां पुत्ररक्षणमात्म-
रक्षणञ्च नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ८.

उपेतः कोषदण्डाभ्यां सामात्यः सह मन्त्रिभिः।
दुर्गस्थश्चिन्तयेत्साधु मण्डलं मण्डलाधिपः ॥ १ ॥

इसप्रकार कोष और दण्डसे युक्तहुआ मण्डलका अधिपति महाराजा अमात्य और मन्त्रियोंके सहित दुर्गमें स्थिति करके अच्छे राजमण्डलके विषयका विचार करै ॥ १ ॥

रथी विराजते राजा विशुद्धे मण्डले चरन् ।
अशुद्धे मण्डले सर्पञ्शीर्यते रथचक्रवत् ॥ २ ॥

विशुद्धमण्डलमें विचरण करताहुआ राजा रथीको समान शोभित होताहै, अशुद्धमण्डलमें गमन करनेसे रथके पहियेकी समान विशीर्णहो जाताहै ॥ २ ॥

रोचते सर्वभूतेभ्यः शशीवाखण्डमण्डलः ।
सम्पूर्णमण्डलस्तस्माद्विजिगीषुः सदा भवेत् ॥ ३ ॥

अखण्डमण्डलवाले चन्द्रमाके समान वह सब प्राणियोंसे शोभित होता है इसकारण जीतनेकी इच्छावाला सम्पूर्णमण्डलसे युक्त रहै ॥ ३ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पञ्चमः ।
एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृताः ॥ ४ ॥

अमात्य (मंत्री) राज्य, किला, कोष और पांचवाँ दण्ड यह राजनीतिके जाननेवालोंने जयकी इच्छावाले राजाकी प्रकृति कहीहै ॥ ४ ॥

एताः पञ्च तथा मित्रं सप्तमः पृथिवीपतिः ।
सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ५ ॥

पांच यह छठेमित्र और सातवाँ राजा यह सप्तप्रकृतिक सातप्रकृतिवाला राज्य होताहै ऐसा बृहस्पतिने कहाहै ॥ ५ ॥

सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः ।
जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः ॥ ६ ॥

इन प्रकृतियोंसे सम्पन्नहुआ उत्साहवान् श्रमी राजा जीतनेकी निरन्तर इच्छावाला विजेता कहलाताहै ॥ ६ ॥

कौलीनं वृद्धसेवित्वमुत्साहः स्थूललक्षिता ।
चित्तज्ञता बुद्धिमत्त्वं प्रागल्भ्यं सत्यवादिता ॥ ७ ॥

कुलीनता, वृद्धजनोंकी सेवा, उत्साह, स्थूललक्षिता, चित्तका ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रगल्भता, सत्यवादिता ॥ ७ ॥

अदीर्घसूत्रताऽक्षौद्रं प्रश्रयः स्वप्रधानता ।
देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता ॥ ८ ॥

दीर्घसूत्रता नहोनी, अक्षुद्रता, नम्रता रखनी, अपनी प्रधानता रखनी, देशकालका ज्ञान होना, दृढता, सबक्लेशमें सहनशीलता ॥ ८ ॥

सर्वविज्ञानिता दाक्ष्यं सदा संवृतमन्त्रता ।
अविसंवादिता शौर्यं भक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता ॥ ९ ॥

सब वस्तुको यथार्थ जानना, चतुराई, सदा अपने मन्त्रको गुप्तरखना, आशाका भंग न करना, शूरता, भक्तिका जानना कि यह पुरुष मुझसे प्रेम रखता है, अथवा कृतज्ञता ॥ ९ ॥

शरणागतवात्सल्यममर्शित्वमचापलम् ।
स्वकर्मदृष्टशास्त्रत्वं कृतित्वं दीर्घदर्शिता ॥ १० ॥

शरणमें आयेहुएकी पालना करनी, सहनशीलता, चंचलता न करना, अपना कर्म शास्त्रानुसार करना, कार्यकुशलता, दूरदर्शिता ॥ १० ॥

जितश्रमित्वं धर्मित्वमक्रूरपरिवारता ।
प्रकृतिस्फीतता चेति विजिगीषुगुणाःस्मृताः ॥ ११ ॥

श्रमका सहना, धर्मात्मा होना, क्रूरजनोंसे रहित होना, प्रजाकी उन्नतिमें तत्परता यह जयशील राजाके गुण हैं ॥ ११ ॥

सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि स राजा यः प्रतापवान् ।
प्रतापयुक्ता ह्यस्यन्ति परान्सिंहा मृगानिव ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण गुणोंसे हीन भी हो पर जो प्रतापी है वही राजा है, प्रतापवान् राजाही शत्रुओंको नष्ट करसकता है जैसे सिंह मृगोंको ॥ १२ ॥

प्रतापसिद्धौ नृपतिः प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।

तस्मादुत्थानयोगेन प्रतापं जनयेत्परम् ॥ १३ ॥

प्रतापसिद्ध राजा महालक्ष्मीको प्राप्त होता हैं, इससे चढाई करनेकी इच्छावाला प्रथम शत्रुको प्रताप दिखलावै ॥ १३ ॥

एकार्थाभिनिवेशित्वमविलक्षणमुच्यते ।
दारुणस्तु स्मृतः शत्रुर्विजिगीषुगुणान्वितः ॥ १४ ॥

एकही अर्थमें लगा हुआ जो दोनोंका प्रयोजन हो वह हानिकर अविलक्षण कहाता है गुणवान् जयशील राजा दारुण शत्रु कहागया है ॥ १४ ॥

लुब्धःक्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो योधाऽवमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुःस्मृतः॥ १५॥

लोभी, क्रूर, आलसी, असत्यवादी, प्रमादी, भीरु, अस्थिर, मूढ, योधाओंका तिरस्कार करनेवाला शत्रु शीघ्रही सुखसे जीतलिया जाता है॥ १५॥

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ।
तथारिमित्रमित्रश्च विजिगीषोः पुरःस्थिताः ॥ १६ ॥

शत्रु और मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र; जयशील राजा इनको अपनी दृष्टिके सन्मुख रक्खै अर्थात् इनमें शत्रु, शत्रुका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र शत्रु हैं शेष मित्रहैं ॥ १६ ॥

पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ।
आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु मण्डलम् ॥ १७ ॥

पश्चात् पार्ष्णिग्राह उसके पीछे आक्रन्द 'निन्दापूर्वक योधाओंके पुकारनेवाले' यह दोनों ओर इन दोनोंका आसार भारढोनेकी सामग्री आदि यह जीतनेकी इच्छा करनेवालेका मण्डल है ॥ १७ ॥

अरेस्तु विजिगीषोस्तु मध्यमो भूम्यनन्तरः ।
अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे ॥ १८ ॥

विजेता और शत्रु इनके मेल होने और अनुग्रहमें मध्यम समर्थ होताहै और इनकी फूट होनेपर इनके मारनेमें मध्यमभी ही समर्थ होता है॥ १८॥

मण्डलत्वे हि चैतेषामुदासीनो बलाधिकः ।
अनुग्रहे संहतानां ध्वस्तानाञ्च वधे प्रभुः ॥ १९ ॥

इनके मण्डल होनेमें अधिक बली उदासीनवृत्तिसे रहनेवाला इन मण्डलयुक्तोंके मेल होनेपर अनुग्रहकरनेमें और विरुद्ध होनेपर इन अरि और विजेताके संहारमें समर्थ होताहै ॥ १९ ॥

मूलप्रकृतयस्त्वेताश्चतस्रः परिकीर्तिताः ।
आहैव मन्त्रकुशलश्चतुष्कं मण्डलं मयः ॥ २० ॥

यही चारों मूल प्रकृति कही गई हैं मंत्रकुशल मयने इसीको मण्डल-चतुष्क कहा है ॥ २० ॥

विजिगीषुररिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽथ मध्यमः ।
उदासीनः पुलोमेन्द्रौ षट्कं मण्डलमूचतुः ॥ २१ ॥

विजेता नृपति, शत्रु, मित्र, पार्ष्णिग्राह (दोनो ओर वा पृष्ठभागके रक्षक) मध्यम और उदासीन इनका पुलोमा और इन्द्रने मण्डल षट्क कहाहै २१॥

उदासीनो मध्यमश्च विजिगीषोस्तु मण्डलम् ।
उशना मण्डलमिदं प्राह द्वादशराजकम् ॥ २२ ॥

उदासीन, मध्यमवृत्तिवाला विजेताका यह बारह राजा संयुक्त मण्डल शुक्राचार्यने कहा है ॥ २२ ॥

द्वादशानां नरेन्द्राणामरिमित्रे पृथक् पृथक् ।
षड्विंशत्कमिदं प्राहुस्ते च ते च पुनर्मयः ॥ २३ ॥

इस बारह राजोंमेंही शत्रु और मित्रोंके पृथक् पृथक् भेदसे मयने इसकोही २६ मण्डल मानाहै अर्थात् १२ शत्रु १२ मित्र २ उदासीन और मध्यम ॥ २३ ॥

द्वादशानां नरेन्द्राणां पञ्च पञ्च पृथक् पृथक्।
अमात्याद्याश्च प्रकृतीरामनन्तीह मानवाः ॥ २४ ॥

इन बारह राजोंकी पृथक् पृथक् अमात्य आदि प्रकृतियें भी शास्त्रज्ञाताओंने वर्णनकी हैं ॥ २४ ॥

मौला द्वादश यास्त्वेता ह्यमात्याद्यास्तथा च याः।
सप्ततिश्चाधिका ह्येताः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ २५ ॥

इनमें बारह राजा मुख्य और मंत्री आदि पांच प्रकृति यह भी सब सत्तरसे अधिक ७२ होतीहैं ॥ २५ ॥

संयुक्तस्त्वरिमित्राभ्यामुभयारिस्तथा सुहृत्।
मौला द्वादश राजान इत्यष्टादशकं गुरुः ॥ २६ ॥

शत्रु और मित्रसे संयुक्त, तथा दोनों ओर शत्रु वा दोनों ओर मित्र मुकुटमणि बारह राजा यह बृहस्पतिने अष्टादशक मण्डल कहाहै ॥२६॥

अष्टादशानामित्येषाममात्याद्याः पृथक् पृथक्।
अष्टोत्तरशतं त्वेतन्मण्डलं कवयो विदुः ॥ २७ ॥

इनही अठारहमें मन्त्री आदि पांच प्रकृति मिलकर यह १८+६ एकसौ आठका मण्डल होजाताहै ॥ २७ ॥

अष्टादशानामेतेषां मित्रं शत्रुः पृथक् पृथक्।
चतुःपञ्चाशत्कमिति विशालाक्षः प्रभाषते ॥ २८ ॥

और इन्हीं अठारहका शत्रुमित्र भेद पृथक् करके विशालाक्षने ५४ प्रकारका मण्डल कहाहै अठारह तिगुना ५४ होता है शत्रु मित्र और उदासीन ॥ २८ ॥

चतुःपञ्चाशतां राज्ञाममात्याद्याः पृथक् पृथक्।
चतुर्विंशतिसंयुक्तं मण्डलं त्रिशतं स्मृतम् ॥ २९ ॥

इन ५४ राजा और अमात्यादिके स्वभावका पृथक् पृथक् उपरोक्त विचारकर अर्थात् छहों स्वभाव मिलानेसे ३२४ का मण्डल कहाहै॥२९॥

सप्तप्रकृतिकं युक्तं विजिगीषोररेश्च यत् ।
चतुर्दशकमेवैतन्मण्डलं परिचक्षते ॥ ३० ॥

सात प्रकृतियोंसे युक्त विजयशील शत्रुका जो चतुर्दशक मण्डल कहाहै ३०

मण्डलत्रिकमित्याहुर्विजिगीष्वरिमध्यमाः ।
मित्रयुक्ताः पृथक् चैतैः षट्कमित्यपरे जगुः ॥ ३१ ॥

जयकी इच्छावाले, शत्रु और मध्य इनका मण्डल त्रिक वर्णन कियाहै, और यही पृथक् मित्रभी होनेसे छः प्रकारके मण्डल षट्क कहातेहैं ॥३१॥

अमात्याद्याः प्रकृतय एकैकस्यैव भूपतेः ।
मण्डलं मण्डलविदः षट्त्रिंशत्कं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥

राजाकी एक एक अमात्यादि प्रकृतियें छः छः भावसे मण्डलके जाननेवालोंने ३६ प्रकार संहतिक मण्डल कहाहै ॥ ३२ ॥

सप्तप्रकृतिकाः सर्व्वे विजिगीष्वरिमध्यमाः ।
एकविंशत्कमित्याहुः परे च नयवादिनः ॥ ३३ ॥

सब जयशील, शत्रु और मध्य यह सातप्रकृतिसे संयुक्त हुए नीतिके ज्ञाताओंने एकविंशत्क २१ मण्डल कहाहै ॥ ३३ ॥

चत्वारः पार्थिवा मौलाः पृथङ्मित्रैः सहाष्टकम् ।
अमात्यादिभिरेतैश्च जगत्यक्षरसंमितम् ॥ ३४ ॥

चार राजा अपने मंत्री मित्रोंसहित अष्टकमण्डल कहातेहैं, यह अमात्यादिके सहित मिलकर ४८ भेदवाले मण्डलसंज्ञक होतेहैं ॥ ३४ ॥

विजिगीषोः पुरस्ताच्च ये पश्चाच्च प्रकीर्तिताः ।
दशकं मण्डलमिदं मण्डलज्ञाः प्रचक्षते ॥ ३५ ॥

जो जयशील राजाके आगे और जो पीछे चलनेवाले कहे हैं इनन्हींको मण्डलके जाननेवालोंने मण्डलदशक कहाहै ॥ ३५ ॥

दशानां भूमिपालानाममात्याद्याः पृथक् पृथक् ।
मण्डलं मण्डलविदः षष्टिसंज्ञं प्रचक्षते ॥ ३६ ॥

इन दशराजाओंके अमात्यादि छः छः भेद पृथक् २ करनेसे मण्डल ज्ञाताओंने षष्टि ६० संज्ञक मण्डल कहाहै ॥ ३६ ॥

अरिमित्रे पुरो नेतुः पश्चिमे चेति पञ्चकम् ।
अमात्याद्याः पृथक् तेषां त्रिंशत्कं परिचक्षते ॥ ३७ ॥

शत्रु और मित्र यह नेताके आगे और पीछे पाँच अमात्यादि पंचक, यह मण्डलके जाननेवालोंने त्रिशंत्कमण्डल कहाहै ॥ ३७ ॥

अरेरप्येवमेवेति दृष्टं दृष्टिमतां वरैः ।
पञ्चकं मण्डलं योज्यं त्रिंशत्याश्च मनीषिभिः ॥ ३८ ॥

बुद्धिमानोंने शत्रुओंमें ऐसे सब भाव देखेहैं तब उनमें भी यह पाँचों मंत्री आदि युक्त करनेसे त्रिशत्कमण्डल होताहै ऐसा बुद्धिमान् कहतेहैं ३८

द्वे एव प्रकृती न्याय्ये इत्युवाच पराशरः ।
अभियोक्ता प्रधानः स्यात्तथा न्याय्योऽभियुज्यते ॥ ३९ ॥

पराशरने कहा है कि, यथार्थमें दोही प्रकृति हैं. इनका अभियुक्त करनेवाला प्रधान कहाता है और वह न्यायसे युक्त होना चाहिये ॥ ३९ ॥

परस्पराभियोगेन विजिगीषोररेस्तथा ।
अरित्वे विजिगीषुत्वे एका प्रकृतिरिष्यते ॥ ४० ॥

शत्रु और जयशीलके परस्पर अभियोग होनेसे अरिपन और जयशीलतामें एकही प्रकृति कही है ॥ ४० ॥

इति प्रकारं बहुधा मण्डलं परिचक्षते ।

सर्वलोकप्रतीतं तु स्फुटं द्वादशराजकम् ॥ ४१ ॥

इसभाँति बहुतप्रकारका मण्डल कहागयाहै और सब लोकोंकी प्रतीतिमें तो बारह राजोंका मण्डल कहा है ॥ ४१ ॥

अष्टशाखं चतुर्मूलं षष्टिपत्रं द्वये स्थितम् ।
षट्पुष्पं त्रिफलं वृक्षं यो जानाति स नीतिवित् ॥ ४२ ॥

आठशाखा, चार मूल, साठपत्ते, दो प्रकारसे स्थित छः पुष्प, तीन फलवाले राजनीतिके वृक्षको जो भलीभाँतिसे जानता है वही नीतिका जानने वाला है * ॥ ४२ ॥

पार्ष्णिग्राहस्तथाऽऽसारः शत्रुमित्रे प्रकीर्त्तिते ।
आक्रन्दोऽथ तदासारो विजिगीषोरुदाहृते ॥ ४३ ॥

पार्ष्णिग्राह इधर उधरके चलनेवाले,सेनाका फैलाव यह शत्रु मित्रमें कहे हैं सेनाको निन्दित सम्बोन्धन करनेवाले और सेनाके फैलाव जयशीलके कहे हैं ॥ ४३ ॥

पुरो यायाद्विगृह्यैव मित्राभ्यां पश्चिमावरी ।
पश्चिमाविव पूर्वाभ्यामरिं तन्मित्रमेव च ॥ ४४ ॥

विग्रहवालेको आगेकरके चले, मित्रोंसे युक्त सेना पश्चिमभागमें, पश्चिमके समान पूर्वमें अरि और उसके मित्रको रक्खे ॥ ४४ ॥

अरिमित्रस्य मित्रन्तु कृतकृत्येन भूयसा ।
संस्तभ्योभयमित्रेण पश्चाद्गच्छेन्नरेश्वरः ॥ ४५ ॥

शत्रुके मित्रके मित्रको लिये स्वयं बलादिसे कृतकृत्य होकर दोनोंओर मित्रमण्डलकी स्थिति किये पीछेसे राजा गमन करै ॥ ४५ ॥

---

* आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति यह मूल हैं, दो प्रकृति अभियोज्य और अभियोजक इनमें स्थितिहै, धर्म, अर्थ, काम यह तीन फल हैं महाराजा, सेनापति,राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल, सुहृद् यह आठ शाखा हैं छः गुणवाले मन्त्रोंके उपाय छः पुष्प हैं और ३२ राज गुण १६ प्रकारकी संधि १२ राजमण्डल इस वृक्षके पत्ते हैं ।

आक्रन्देनात्मना चैव पार्ष्णिग्राहं प्रपीडयेत् ।
आक्रन्देन तदासारमाक्रन्दासारभाजिना ॥ ४६ ॥

अपनी फट्कारसे पार्ष्णिग्राहोंको पीडित करै फैलीहुई सेनाके प्रधान उस आक्रन्दन फट्कारसे उत्साही होते हैं ॥ ४६ ॥

मित्रेणैवात्मना चैव कुर्वीतोद्धरणं रिपोः ।
मित्रेण हि समित्रेण रिपुमित्रं प्रपीडयेत् ॥ ४७ ॥

मित्रोंके द्वारा वा स्वयं शत्रुको उच्छेदकरे, ग्रहण करै मित्रद्वारा वा मित्रके मित्रद्वारा शत्रुके मित्रको पीडित करे ॥ ४७ ॥

अरिमित्रस्य मित्रस्य पीडनं पृथिवीपतिः ।
कुर्वीतोभयमित्रेण मित्रमित्रेण चैव हि ॥ ४८ ॥

राजा शत्रुके मित्रका वा शत्रुके मित्रके मित्रका पीडन अपने मित्र वा मित्रके मित्रसे करावे ॥ ४८ ॥

अनेन क्रमयोगेन विजिगीषुः सदोत्थितः ।
पीडयेदहितं शत्रुं मित्राणामन्तरन्तराम् ॥ ४९ ॥

इसक्रमसे सदा उन्नतिको प्राप्तहुआ राजा मित्रोंकी अन्तरासे अहितकारी शत्रुको पीडितकरै ॥ ४९ ॥

पीड्यमानो ह्युभयतः सदोद्युक्तैर्मनीषिभिः ।
रिपुरुच्छेदमायाति तद्वशे चावतिष्ठते ॥ ५० ॥

सदा उद्युक्तहुए बुद्धिमानोंसे दोनों ओरसे पीडितहुआ शत्रु नाशको प्राप्तहोताहै और जयशीलके वशमें होजाताहै ॥ ५० ॥

सर्वोपायेन कुर्वीत सामान्यं मित्रमात्मसात् ।
भवन्ति मित्राद्दुच्छिन्नाः सुखच्छेद्याहि शत्रवः॥ ५१ ॥

सब उपायोंसे शत्रुके सामान्य मित्रोंको अपने वशीभूत करे मित्रवर्गोंसे रहित हुए शत्रु सुखसे नाश होसकतेहैं ॥ ५१ ॥

कारणेनैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।
रिपवो येन जायन्ते कारणं तत्परित्यजेत् ॥ ५२ ॥

कारणसेही मित्र और शत्रु होजातेहैं, जिसकारणसे शत्रु बने वह कारण त्यागदे ॥ ५२ ॥

प्राधान्येन हि सर्वत्र सर्वाः संसर्ज्जयेत्प्रजाः ।
तासां संसर्ज्जनाद्राजा सर्वाङ्गीं श्रियमश्नुते ॥ ५३ ॥

प्रधानतासे सर्वत्र प्रजाओंको संगठित करै प्रजाओंकी हमदर्दीसे राजा सबप्रकार लक्ष्मीको प्राप्तहोताहै ॥ ५३ ॥

दूरेचरान्माण्डलिकान्स्थानदुर्गनिवासिनः ।
मित्रीकुर्वीत तत्प्राणाः साधयन्तीह मण्डलम् ॥ ५४ ॥

स्थान और दुर्गमें दूर रहनेवाले माण्डलिक राजोंको अपना मित्र दूतोंद्वारा करे वही इसके प्राणरूप होकर इसकी मण्डलकी साधना करते हैं ५४

चलेत्तदोर्ज्जितबलो मध्यमो विजिगीषया ।
एकीभूयारिणा तिष्ठेदशक्तः सन्धिमान्नमेत् ॥ ५५ ॥

उनसे अपना बल बढाकर जीतनेकी इच्छा करनेवाला मध्यमें चले और मित्रोंके साथ एकत्र हो शत्रुसे संग्रामकरे यदि अशक्त हो तो नम्रतासे सन्धि करले ॥ ५५ ॥

सहजः कार्यजश्चैव द्विविधः शत्रुरुच्यते ।
सहजः स्वकुलोत्पन्न इतरः कार्यजः स्मृतः ॥ ५६ ॥

एक स्वाभाविक, एक कार्यसे यह दोप्रकारके शत्रु होतेहैं, स्वाभाविक शत्रु अपने कुलमें उत्पन्नहुआ होताहै, दूसरा कार्यसे उत्पन्न होताहै ॥ ५६ ॥

उच्छेदापचयो काले पीडनं कर्षणन्तथा ।
इति विद्याविदः प्राहुः शत्रौ वृत्तं चतुर्विधम् ॥ ५७ ॥

उच्छेद, अपचय (हरणकरना) समयपर पीडा देनी और कर्षण यह विद्वानोंने चारप्रकारकी शत्रुकी स्थिति कहीहै ॥ ५७ ॥

रेचनं कोषदण्डाभ्यां महामात्यवधस्तथा ।
एतत्कर्षणमित्याहुराचार्याः पीडनं परम् ॥ ५८ ॥

कोष और दण्डसे रहित करदेना, प्रधानमंत्रीको मारडालना, आचार्योंने इसका नाम कर्षण कहाहै इसके पीछे पीडनकरै ॥ ५८ ॥

समाश्रयविहीनो वा दुर्बलं वा समाश्रितः ।
शक्योऽरिः सम्पदा युक्त उच्छेत्तुं भूम्यनन्तरः॥५९॥

जो किलेसे विहीन हो अथवा दुर्बल किलेसे युक्तहो ऐसा शत्रु सम्पदायुक्त भी उच्छेदित होसक्ताहै ॥ ५९ ॥

कर्षणं पीडनं काले कुर्वीताश्रयमानिनः ।
समाश्रयं दुर्गमाहुर्मित्रं वा साधुसम्मतम् ॥ ६० ॥

किलेमें स्थितहुएका समयपर कर्षण और पीडन करे समाश्रयही दुर्गमें रहनेका नामहै, और मित्रवर्गका अर्थ यह कि, साधुसम्मत हों ॥ ६० ॥

विभीषणस्य सोदर्यस्तथा सूर्यसुतस्य च ।
सर्वतन्त्रापहारित्वात्तथोच्छेद्यो निजो रिपुः ॥ ६१ ॥

विभीषणके सगे भ्राताका तथा सूर्यपुत्रके सगेभ्राता, युधिष्ठिरका सबकार्य नीतिप्रयोग हरण होनेसे जैसे विनाश हुआ, इसीप्रकार सर्व तंत्रके हरणसे शत्रु सहजमेंही विनाश होसकताहै ॥ ६१ ॥

छिद्रं कर्म्म च वित्तञ्च विजानाति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानलः ॥ ६२ ॥

जो शत्रु अपना छिद्रकर्म और धन जानताहै वह सूखे वृक्षको जैसे भीतर भीतर अग्नि जलातीहै इसप्रकार जलता रहताहै ॥ ६२ ॥

वर्त्तते पक्षपातेन मित्रं यदुभयात्मकम् ।

वज्रीव हि त्रिशिरसं तदुच्छिन्द्यात्कृतत्वरः ॥ ६३ ॥

जो मित्र पक्षपातसे दोनोंओर वर्तताहै उसको शीघ्रही नष्टकरदेना चाहिये जिसप्रकार इन्द्रने दैत्योंकी ओर भी मिलेहुए और इन्द्रका यज्ञभी करतेहुए विश्वरूपको मारडाला, इसने चुपकेसे इस यज्ञमें दैत्योंको भी आहुति दी थी ॥ ६३ ॥

बलिना विगृहीतस्य द्विषतः कृच्छ्रवर्त्तिनः ।
कुर्वीतापचयं शत्रोरात्मोच्छित्तिविशङ्कया ॥ ६४ ॥

जब बलवान् शत्रुसे निग्रह उपस्थित हुआहो तो कष्टमें पडे शत्रुका अपने उच्छेदकी शंकासे धनादि हरण करै, वा उसीको अपहरण करे ॥ ६४ ॥

यस्मिन्नुच्छिद्यमाने तु रिपुरन्यः प्रवर्त्तते ।
न तस्योच्छित्तिमन्विच्छेत्कुर्वीतैनं स्वगोचरम् ॥ ६५ ॥

जिसके उच्छेद करनेसे कोई दूसरा शत्रु उठ खड़ा हो तो उसका नाश न करे अपने नेत्रगोचर रक्खै अर्थात् आधीन रक्खै ॥ ६५ ॥

वंशागतो रिपुर्यस्तु विचलेद्दूरवग्रहः ।
तस्य संशमनायाशु तत्कुलीनं समुन्नयेत् ॥ ६६ ॥

जो शत्रु वंशक्रमसे प्राप्तहुआ हो तो वह यदि विग्रह करनेको उपस्थितहो तो शीघ्र उसके शान्त करनेके निमित्त किसी कुलीनकोही सन्नद्धकरै ॥ ६६ ॥

विषं विषेण व्यथते वज्रं वज्रेण भिद्यते ।
गजेन्द्रो दृष्टसारेण गजेन्द्रेणैव बध्यते ॥ ६७ ॥

विषकी औषधी विषहीहै; वज्र वज्रसेही अर्थात् हीरा हीरेसेही तोडा जाता है, गजराज मत्तहाथियोंसेही बँधाजाता है ॥ ६७ ॥

मत्स्यो मत्स्यं समादत्ते ज्ञातिर्ज्ञातिमसंशयम् ।
रावणोच्छित्तये रामो विभीषणमपूजयत् ॥ ६८ ॥

मत्स्यही मत्स्यकोग्रहणकर खाजाताहै, इसीप्रकार ज्ञाति ज्ञातिको खाजाती है रावणके नाशके निमित्त रामचन्द्रने विभीषणका सत्कार किया था॥ ६८॥

यस्मिन्मण्डलसङ्क्षोभः कृते भवति कर्म्मणि ।
न तत्कुर्यात्तु मेधावी प्रकृतीरनुरञ्जयेत् ॥ ६९ ॥

जिस कर्मके करनेसे प्रजा मण्डलका संक्षोभहो, बुद्धिमान्को उचितहै कि, उस कार्यको न करके प्रजाका चित्त प्रसन्न करे ॥ ६९ ॥

साम्ना दानेन मानेन प्रकृतीरनुरञ्जयेत् ।
आत्मीया भेददण्डाभ्यां परकीयाश्च दारयेत् ॥ ७० ॥

साम, दान और मानसे प्रकृतिको प्रसन्न करै, अपने भेद और दण्डोंके उपायोंसे शत्रुओंको विदीर्ण करै ॥ ७० ॥

आकीर्णं मण्डलं सर्व्वं मित्रैररिभिरेव च ।
सर्वः स्वार्थपरो लोकः कुतो मध्यस्थता क्वचित्॥ ७१ ॥

सबही मण्डल शत्रु और मित्रोंसे भराहुआ है, सभी लोग स्वार्थपर हैं, मध्यस्थता कहां है ॥ ७१ ॥

भोगप्राप्तं विकुर्वाणं मित्रमप्युपपीडयेत् ।
अत्यन्तं विकृतं हन्यात्स पापीयान् रिपुर्मतः ॥७२॥

यदि भोगको प्राप्तहुआ मित्रभी कुछ अपकार करे तो उसको भी पीडित करे जो अत्यन्त अपकारी हो तो उसको नष्ट करे कारण कि, वह पापी शत्रुरूप है ॥ ७२ ॥

अमित्राण्यपि कुर्व्वीत मित्राण्युपचयावहान् ।
अहिते वर्त्तमानानि मित्राण्यपि परित्यजेत् ॥ ७३ ॥

यदि अपना हित करते हों तो शत्रुकोभी मित्र करे, और यदि मित्र अहित कार्य करते हों तो उनको भी त्यागदे ॥ ७३ ॥

स बन्धुर्योऽनुबध्नाति हितेऽर्थे वा हितादरः ।

अनुरक्तं विरक्तं वा तन्मित्रमुपकारि यत् ॥ ७४ ॥

वही बन्धु है जो अपने प्रयोजनमें हितकारी हो तथा हितपूर्वक आदर करताहै, अनुरक्त होताहै विरक्त जो उपकार करै वही बन्धु है ॥ ७४ ॥

मित्रं विचार्य बहुशो ज्ञातदोषं परित्यजेत् ।

त्यजन्नभूतदोषं हि धर्म्मार्थावुपहन्ति हि ॥ ७५ ॥

मित्रके प्रति बहुतसा विचार करै जब उसमें दोष विदित होजायँ तब उसको त्यागदे यदि उस बहुत दोषवालेका त्याग न करे तो उसके धर्म और अर्थ नष्ट होते हैं ॥ ७५ ॥

स्वयं दोषगुणान्वेषी भवेत्सर्वत्र सर्वदा ।

स्वयं ज्ञातेषु दोषेषु शस्यते दण्डपातनम् ॥ ७६ ॥

और सर्वत्र सदा स्वयंही गुण दोषोंकी परीक्षा करता रहै, स्वयं दोष जानकर दण्ड देनेमें बड़ाई होती है ॥ ७६ ॥

न ह्यविज्ञाय तत्त्वेन कोपं कुर्यात्कदाचन ।

भुजङ्गमिव मन्यन्ते निर्दोषक्रोधनं जनाः ॥ ७७ ॥

विना ठीक अपराधके जाने कभी क्रोध न करे जो राजा विना कारणके क्रोध करते हैं प्रजालोग उनको सर्पके समान जानते हैं ॥ ७७ ॥

मित्राणामन्तरं विद्यान्मध्यज्यायः कनीयसाम् ।

मध्यज्यायःकनीयांसि कर्माणि च पृथक्पृथक् ॥ ७८ ॥

मध्य, वड़े और छोटे मित्रोंका अन्तर जानता रहे, इन मध्य, ज्येष्ठ और कनिष्ठोंके पृथक् पृथक् कार्योंको जाने ॥ ७८ ॥

न हि मिथ्याऽभियुञ्जीत शृणुयाच्चापि तद्विधम् ।

मित्रभेदन्तु ये कुर्यस्तान्सर्वांस्तु परित्यजेत् ॥ ७९ ॥

इनपर मिथ्या अभियोग न करै और इसप्रकारके मिथ्या अभियोगोंको भी न करे, जो मित्रका भेद करावे उन सबको त्याग देना चाहिये ॥ ७९ ॥

प्रायोगिकं मात्सरिकं माध्यस्थं पाक्षपातिकम् ।
सोपन्यासश्च जानीयाद्वचः संशयितं तथा ॥ ८० ॥

प्रयोग करनेवाले, मत्सरी, मध्यवृत्तिमें रहनेवाले, पक्षपाती, वाक्यका उपक्रम करनेवाले इनके शंकित वचनोंको जानना चाहिये ॥ ८० ॥

प्रकाशपक्षग्रहणं न कुर्यात्सुहृदां स्वयम् ।
अन्योन्यमत्सरश्चैषां स्वयमेवाशु धारयेत् ॥ ८१ ॥

सुहृदोंका पक्ष प्रकाशरूपसे स्वयं ग्रहण न करना चाहिये, और इनके परस्पर मत्सरको स्वयंही धारण करे ॥ ८१ ॥

कार्यस्य हि गरीयस्त्वान्नीचानामपि कालवित् ।
सतोऽपि दोषान् प्रच्छाद्य गुणानप्यसतो वदेत् ॥ ८२ ॥

कार्यके अधिक होनेसे समयका जाननेवाला नीचकेभी दोषोंको छिपाकर असत् भी गुणोंका उल्लेख करे चाहैं उसमें दोषभी हों पर अपने कार्यके निमित्त गुणोंका उल्लेख करै ॥ ८२ ॥

प्रायो मित्राणि कुर्वीत सर्वावस्थानि भूपतिः ।
बहुमित्रो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं रिपून् ॥ ८३ ॥

राजा सब अवस्थामें प्रायः मित्रही करताहै बहुत मित्रवालाही शत्रुओंको अपने वशमें करसकताहै ॥ ८३ ॥

न तत्र तिष्ठति भ्राता न पिताऽन्योऽपि वा जनः ।
पुंसामापत्प्रतीकारे सन्मित्रं यत्र तिष्ठति ॥ ८४ ॥

जहां पुरुषोंके आपत्ति आनेपर उसके दूरकरनेमें सन्मित्र उपस्थित रहताहै उस स्थानमें भ्राता, पिता वा और कोई जन उपस्थित नहीं होसकता ॥ ८४ ॥

अमित्राण्यवतो मित्रैर्न गृण्हीयाद्दृढव्रतैः ।
इति मण्डलवृत्तं हि मण्डलज्ञाः प्रचक्षते ॥ ८५ ॥

दृढप्रतिज्ञावाले मित्रोंसे अमित्रोंकी रक्षा करताहुआ उनको ग्रहण न करे इसप्रकारसे मण्डलके जाननेवालोंने मण्डलवृत्त वर्णन कियाहै ॥ ८५ ॥

मित्रोदासीनरिपव एतन्मात्रं हि मण्डलम् ।
सम्यक्छोधनमेतेषामिति मण्डलशोधनम् ॥ ८६ ॥

मित्र उदासीन और शत्रु यही मण्डलहैं इनकी भलीप्रकार खोज रखना मण्डलका शोध कहाताहै ॥ ८६ ॥

इति स्म राजा नयवर्त्मना व्रजन् समुद्यमी मण्डलशुद्धिमाचरन् ।
विराजते साधुविशुद्धमण्डलः शरच्छशीवप्रतिनन्दयन्प्रजाः ८७

इति का० नी० मण्डलयोनिमण्डलचरितश्चाष्टमःसर्गः ८

इसप्रकारसे राजा नीतिके मार्गमें चलताहुआ, उद्योगसे मण्डलकी शुद्धि करताहुआ महात्माओंके विशुद्धमण्डलमें विराजमान होताहै, और शरद्के चन्द्रमाकी समान प्रजाको प्रसन्न करताहै ॥ ८७ ॥

इति कामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां मण्डलयोनिमण्डल
चरितश्चाष्टमःसर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ९.

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनाम् ॥ १ ॥

जब राजा बलीशत्रुसे आक्रान्त होजाय और कोई उपाय न सूझे तब विपदग्रस्त हो काल व्यतीत करता हुआ सन्धि करले ॥ १ ॥

कपाल उपहारश्च सन्तानः सङ्गतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ २ ॥

कपाल, उपहार, सन्तान संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर २

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परिभूषणः ॥ ३ ॥

अदृष्टनर, आदिष्ट,आत्मामिष,उपग्रह,परिक्रय, उच्छिन्न, परिभूषण॥ ३॥

स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च षोडशः परिकीर्त्तितः ।
इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ ४ ॥

और स्कन्धोपनेय सन्धि कार्य कुशलपुरुषोंने यह सोलह प्रकारकी संधिकही हैं ४

कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः ।
सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ ५ ॥

बराबरवालेंसे मेलकरनेका नाम कपालसंधिहै, जो द्रव्यदेनेसे होती है वह उपहारसंधि कहातीहै ॥ ५ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
सद्भिः सङ्गतसन्धिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ६ ॥

कन्यादान करनेसे संतानसंधि कहाती है, श्रेष्ठोंके साथ मित्रता करनेसे संगतसंधि होती है ॥ ६ ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च कारणैर्यो न भिद्यते ॥ ७ ॥

जबतक जियेंगे तबतक तुल्य अर्थके प्रयोजन वाली सम्पत्ति विपत्तिमें जो किसी कारणसे भी नहीं टूटैगी ॥ ७ ॥

सङ्गतः सन्धिरेवैष प्रहृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
सोऽपरैः सन्धिकुशलैः काञ्चनः परिकीर्त्तितः ॥८॥

यह संगतसंधि अत्युत्तम होनेसे सुवर्णके समान है और दूसरे सन्धिके जाननेवालोंने इसको कांचनसंधि कहाहै ॥ ८ ॥

भव्यामेकार्थसंसिद्धिं समुद्दिश्य क्रियेत यः ।

स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ९ ॥

जो किसी श्रेष्ठ कार्यके सिद्धिके लिये संधि की जाती है, उसको उपन्यासज्ञाताओंने उपन्याससंधि कहा है ॥ ९ ॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति ।
इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ १० ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यहभी मेरा उपकार करेगा, इसके निमित्त जो संधि कीजाती है उसे प्रतीकारसंधि कहते हैं ॥ १० ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति ।
अयश्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ ११ ॥

मैं इसका उपकार करता हूं यह भी मेरा उपकार करैगा राम सुग्रीवकी समान यहभी प्रतीकारसंधि कहाती है ॥ ११ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्राभिगच्छतः ।
स संहितप्रयाणस्तु सन्धिः संयोग उच्यते ॥ १२ ॥

एक अर्थका भलीप्रकारसे उद्देश करके जहां अच्छेप्रकार गमन करते हुए संधि होतीहै, वह संहितप्रयाणवाली संयोगसंगधि कहाती है ॥ १२ ॥

आवयोर्योधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि ।
यस्मिन् पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरुषान्तरः ॥ १३ ॥

हम दोनोंके मुख्य योधाओंसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो ऐसा जिसमें पण किया जाता है वह पुरुषान्तरसंधि है ॥ १३ ॥

त्वयैकेन मदीयार्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥

तुम इकेलेही इस मेरे प्रयोजनको भलीप्रकारसे सिद्ध करो जिसमें शत्रु ऐसा प्रण करे वह अदृष्टपुरुषसंधि है ॥ १४ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुर्वर्जितः ।
सन्धीयते सन्धिविद्भिरादिष्टः सन्धिरुच्यते ॥ १५ ॥

जहाँ पृथ्वीका कुछ अंश देकर मेल किया जाताहै उसे संधिज्ञाताओंने आदिष्टसंधि कहाहै ॥ १५ ॥

स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १६ ॥

अपनी सेनासे जो संधि की जाती है, वह आत्मामिषहै, और जो प्राणरक्षाके लिये सर्वस्व दान करना है वह उपग्रहसंधि है ॥ १६ ॥

कोषांशेनाथ कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः ।
शेषप्रकृतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १७ ॥

जो कुछ कोशके अंशसे वा सब कोश देकर शेष प्रजाकी रक्षाके लिये संधि कीजाती है उसका नाम परिक्रय संधि कहा है ॥ १७ ॥

भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
सर्वभूम्युत्थितफलादानेन परिभूषणः ॥ १८ ॥

सारवाली उपजाऊ भूमिके देनेसे मेल करनेको उच्छिन्नसंधि कहतेहैं, पृथ्वीसे उत्पन्न सब अन्न फलादिके देनेसे परिभूषणसंधि कहाती है ॥ १८ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविदोजनाः ॥ १९ ॥

जहां थोड़े फलादि थालीमें रख कन्धेपर लेजाकर भृत्यजन देतेहैं, संधि जाननेवालोंने उसको स्कन्धोपनेयसंधि कहाहै ॥ १९ ॥

परस्परोपकारश्च मैत्रं सम्बन्धजस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारस्ते च सन्धयः ॥ २० ॥

परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और भेंट यह चार संधि विशेष रूपसे कही हैं ॥ २० ॥

एक एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नः ।
उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवर्जिताः ॥ २१ ॥

हमारे मतमें एक उपहारसंधिही श्रेष्ठ और सब उपहारके भेद हैं वे मित्रतामें वर्जित हैं ॥ २१ ॥

अभियोक्ता बली यस्मादलब्ध्वा न निवर्त्तते ।
उपहारादृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥

बली चढ़ाई करनेवाला विना लोभके निवृत नहीं होता, उससे उपहारके सिवाय दूसरी सन्धि हैही नहीं ॥ २२ ॥

बालो वृद्धो दीर्घरोगस्तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ २३ ॥

बालक, बूढा, दीर्घकालका रोगी, जातिसे बाहर, डरपोक, दूसरेको भय उत्पन्न करनेवाला, लोभी, लुब्धजन ॥ २३ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिशक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ २४ ॥

विरक्तस्वभाववाला, विषयोंमें अतितत्पर, अनेक चित्तोंके साथ मन्त्र सम्मति करनेवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला ॥ २४ ॥

दैवोपहतकश्चैव दैवचिन्तक एव च ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसन सङ्कुलः ॥ २५ ॥

तथा दैवसे हतहुआ, और प्रारब्धपरही भरोसा करनेवाला, दुर्भिक्षव्यसनमें लगाहुआ सेनाकी आपत्तिसे युक्त ॥ २५ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ २६ ॥

कुदेश वा दूसरेके देशमें स्थित, बहुत शत्रुवाला जो समयपर प्रतिज्ञापर

स्थित नहीं रहता, और सत्यधर्मसे रहित यह वीस प्रकारके पुरुषहैं ॥२६॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृह्णीयाच्च केवलम् ।
एते विगृह्यमाना हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ २७ ॥

इनसे संधि न करै, केवल विग्रहही करै यह विग्रहको प्राप्त होकर शीघ्रही शत्रुके वशमें होजाते हैं ॥ २७ ॥

बालस्य ह्यप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
योद्धुं स्वमयशक्तस्य परार्थेकोहि युद्धयते ॥ २८ ॥

बालक तौ प्रभावशील नहींहोता इसकारण उससे कोई युद्धकीइच्छा नहीं करता जो स्वयं असमर्थ है दूसरेके निमित्त उससे कौन युद्धकरेगा ॥२८॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ २९ ॥

वृद्ध और दीर्घरोगी उत्साह तथा शक्तिहीन होनेसे यह दोनों स्वयंही तिरस्कृत रहतेहैं ॥ २९ ॥

सुखोच्छेद्यस्तु भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयः स्वार्थसत्कृताः ॥ ३० ॥

और सब जातियोंसे बाहर कियाहुआ सुखसे छेदन करनेके योग्य होताहै और वे ज्ञातिके लोग अपने स्वार्थके वश होकर स्वयंही इसको मारतेहैं ३० ॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेवावसीदति ।
धीरोऽप्यवीरपुरुषैः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ३१ ॥

डरपोक युद्धके त्यागसे स्वयंही नष्ट होताहै, धीरपुरुष भी कायरपुरुषोंके साथ हो तो संग्राममें उनके सहित उसको निवृत्त होना पडताहै ३१ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युद्धयन्तेऽनुजीविनः ।
लुब्धानुजीवितैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ३२ ॥

लोभीके धन न देनेके कारण अनुजीवी युद्ध नहीं करते हैं, और वह लोभी दानके न करनेसे उन अनुजीवियोंसेही मारदिया जाताहै ॥ ३२ ॥

सन्त्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेऽप्यतिसक्तिमान् ॥ ३३ ॥

और विरक्तप्रकृतिवाले राजाको युद्धमेंही उसकी सेना त्याग देतीहै और विषयोंमें अतिआसक्त पुरुष सुखसे जीतलिया जाताहै ॥ ३३ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्य्ये तैः स उपेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

अनेकोंके साथ सम्मातिवाला मंत्रियोंसे दूषित होजाताहै और अनवस्थित [चंचल] चित्त होनेसे कार्यमें वे मंत्री इसकी उपेक्षा करदेतेहैं ॥ ३४ ॥

सदा धर्म्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकाः ।
विशीर्य्यन्ते स्वयञ्चैवं दैवोपहतकास्तथा ॥ ३५ ॥

और देवब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला अधर्मी होनेसे निर्बल होताहै और धर्मही सदा बली है इसकारण वह पराजित होताहै और दैवसे हतहुए स्वयंही नष्ट होजातेहैं ॥ ३५ ॥

सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मना न विचेष्टते ॥ ३६ ॥

सम्पात्ति और विपत्तिमें दैवही कारणहै, इसप्रकार दैवका प्रधान माननेवाला स्वयं कुछ चेष्टा नहीं करता ॥ ३६ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेवावसीदति ।
बलव्यसनसक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न्न जायते ॥ ३७ ॥

दुर्भिक्ष और आपत्तिग्रस्त स्वयंही नष्ट हुआहै, और सेनाके व्यसनको प्राप्तहुआ राजा युद्धकी शक्तिही नहीं रखता ॥ ३७ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।

LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. ......2913........

ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपकर्षति ॥ ३८ ॥

अदेशमें स्थित राजा छोटे शत्रुसेभी परास्त होजाताहै थोडे जलमें स्थित हुआ भी ग्राह हाथीको खैंचलेताहै ॥ ३८ ॥

बहुमित्रस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विनश्यति ॥ ३९ ॥

बहुत शत्रुओंसे भयभीत हुआ राजा गृद्धोंके मध्यमें कबूतरकी समान जिस मार्गमें गमन करे उसीमें शीघ्र नष्ट होताहै ॥ ३९ ॥

अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ४० ॥

अकालमें सेनाके उपयोग करनेवालेको समयपर युद्धकरनेवाला मारदेताहै, जैसे रातमें ज्योतिहत होजानेसे कौएको उल्लू मारतेहैं ॥ ४० ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ ४१ ॥

सत्य, धर्मसे रहितके साथ कभी सन्धि न करे, वह सन्धित होनेसे भी असाधुताके कारण शीघ्रही विकारको प्राप्त होताहै ॥ ४१ ॥

सत्यार्यधार्मिकानार्यभ्रातृसङ्घातवान् बली ।
अनेकविजयी चेति सन्धेयाः सप्त कीर्त्तिताः ॥ ४२ ॥

सत्यवादी, आर्य, श्रेष्ठ धर्मके अनुष्ठाता, अनार्य बन्धुओंसे युक्त, बलवान्, अनेकोंको जीतनेवाले यह सात प्रकारके पुरुष सन्धि करनेके योग्य हैं ४२

सत्यश्च पालयन्सत्यसन्धितो नेति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेष्वपि व्यक्तमार्यो नो यात्यनार्यताम् ॥ ४३ ॥

सत्यसंधपुरुष सत्यका पालन करताहुआ कभी विकारको प्राप्त नहीं होता चाहै प्राणबाधाभी उपस्थित होजाय, पर आर्य्यपुरुष कभी अनार्यपनको प्राप्त नहीं होता ॥ ४३ ॥

Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. ~~2013~~ ~~1113~~ 2913

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागधर्म्माच्च दुःखच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ ४४ ॥

धर्म्मात्मापर विपत्ति आनेसे सबही युद्ध करते हैं प्रजाका अनुराग और धर्म होनेसे वह बड़ी कठिनाईसे जीता जाता है ॥ ४४ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण सम्प्राप्योत्सादयेद्धि सः ।
रेणुकायाः सुत इव मूलेष्वपि न तिष्ठति ॥ ४५ ॥

अनार्यके साथ भी सन्धि करै । कारण कि, वह प्राप्तकर सबही प्रदान करदेता है वह रेणुका पुत्र परशुरामके समान अपने मूलमें भी स्थिर नहीं रहता ॥ ४५ ॥

संघातवान्यथा वेणुर्निबिडः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसङ्घातवांस्तथा ॥ ४६ ॥

जिसप्रकारसे घने मिलेहुए बाँस घनिष्ट और कांटोंसे युक्त होजाते हैं और वह अच्छेद्य होजाते हैं इसीप्रकार कुटुम्बी पुरुष सहजमें छेदन नहीं कियाजाता ॥ ४६ ॥

समाक्रान्तस्य बलिना सर्व्वयत्नवतोऽपि हि ।
हरिणस्येव सिंहेन शरणं नेह विद्यते ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण यत्न करनेवाला भी बली पुरुषोंसे आक्रान्त होकर सिंहसे घिरे हरिणकी समान शरणको प्राप्त नहीं करसकता ॥ ४७ ॥

ईषदायच्छमानो हि सिंहो मत्तमिव द्विपम् ।
हिनस्ति बलवांस्तस्मात्सन्धेयः शिवमिच्छता ॥ ४८ ॥

थोडासा छेडा हुआ भी सिंह मतवाले हाथीको मारदेता है इसकारण बलवानको न छेडै उससे सन्धि रक्खै ॥ ४८ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातन्न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ ४९ ॥

बलिके साथ निर्बलको युद्ध करना चाहिये, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, कभी भी मेघ पवनके प्रतिकूल नहीं चलता है ॥ ४९ ॥

बलीयसि प्रणमतां काले विक्रमतामपि ।
सम्पदो नापसर्पन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥ ५० ॥

समयपर पराक्रम करनेवाले तथा नम्र होनेवाले बलवान् पुरुषकी सम्पत्ति कभी नहीं जाती जैसे नीचानकी ओर बहनेवाली नदियें कभी नीचानकी ओर आना नहीं छोडतीं ॥ ५० ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ ५१ ॥

जमदग्निके पुत्र परशुरामकी समान सबही सर्वत्र सब जगह अनेक युद्ध के जीतनेवाले अपने प्रतापसेही भोग करते हैं ॥ ५१ ॥

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशं गच्छन्ति शत्रवः ॥ ५२ ॥

अनेक युद्धोंके जीतनेवालेकी जिसके साथ संधि होजाती है उसके प्रतापसे शीघ्रही उसके शत्रु उसके वशीभूत होजाते हैं ॥ ५२ ॥

न जातु गच्छेद्विश्वासं सन्धितोऽपि हि बुद्धिमान् ।
अद्रोहसमयं कृत्वा वृत्रमिन्द्रः पुराऽवधीत् ॥ ५३ ॥

सन्धि करके भी बुद्धिमान् किसीका विश्वास न करै मैं फिर वैर न करूंगा यह कहकर भी इन्द्रने वृत्र असुरको मारडाला ॥ ५३ ॥

विकारं याति पुत्रो हि राज्यान्नीचः पिता तथा ।
तल्लोकवृत्तान्नृपतेरन्यद्वृत्तं प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

---

१ जब एक समय वृत्रासुरका प्रताप अधिक बढा और वह इन्द्रलोकको तपसे जय करने लगा, और इन्द्रसे युद्धकी आकांक्षा की, तब इन्द्रने उसे विश्वास दिलाया कि, हम तुमसे शत्रुता न करेंगे पीछे उस तप करते हुएको अस्त्रसे संहार किया ।

जिस बर्तावसे पुत्र निकृष्ट विकारी होजाता (बिगडजाता) है तथा जिस बर्तावसे राजा 'पिता' नीच विकारी होजाता है राजाका वह बर्ताव लोकव्यवहारसे भिन्न कहाजाता है अर्थात् विरुद्ध है ॥ ५४ ॥

अभियुक्तो बलवता तिष्ठन्दुर्गे प्रयत्नवान् ।
तद्बलीयस्तराह्वानं कुर्वीतात्मविमुक्तये ॥ ५५ ॥

जब राजा बलवान्की चढाईसे अभियुक्त हो तो यत्नपूर्वक दुर्गमें स्थित रहे और अपने छुटकारेके निमित्त शत्रुसे अधिक बलीका आह्वान करे ५५ ॥

स्वोत्साहशक्तिमुद्वीक्ष्य विगृण्हीयान्महत्तरम् ।
केसरीव द्विपमिति भारद्वाजः प्रभाषते ॥ ५६ ॥

अपनी उत्साहशक्तिको देखकर महान् पुरुषके साथ विग्रह करे जिस प्रकार सिंह हाथीपर झपटता है यह भरद्वाजने कहा है ॥ ५६ ॥

एकोऽपि सिंहः साहस्रं यूथं मथ्नाति दन्तिनः ।
तस्मात्सिंह इवोदग्रमात्मानं वीक्ष्य सम्पतेत् ॥ ५७ ॥

एक सिंहभी सहस्रों हाथियोंके यूथको मथ डालता है इसकारण सिंहकी समान अपनेको उदग्र देखकर आक्रमण करे ॥ ५७ ॥

ज्यायांसं हि ससैन्यस्य बलाद्विक्रम्य निघ्नतः ।
प्रतापसिद्धौ सर्वत्र भवन्ति रिपवोऽपरे ॥ ५८ ॥

बलपूर्वक सेनाको लिये बड़े शत्रुकोभी मारता हुआ प्रतापसे बढता है, प्रताप सिद्धिमें सर्वत्र दूसरे शत्रु होते हैं ॥ ५८ ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।
न हि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ५९ ॥

जो युद्धमें सन्देह हो तो समानके साथ भी सन्धि करे, सन्दिग्धकार्य न करे ऐसा बृहस्पतिने कहाहै ॥ ५९ ॥

तत्सम्भवृद्धेरतिवृद्धिकामः समेन सन्धानमिहोपगच्छेत् ।
अपक्वयोर्वा घटयोरवश्यमन्योन्यभेदीसमसन्निपातः ॥ ६० ॥

उसकी वृद्धिसे अपनी वृद्धिकी इच्छा करता हुआ समान पुरुषके साथ संधि करे, यदि दोनों घडे कच्चे हों तो उनके परस्पर भेदसे अवश्य उनका नाश होजाताहै ॥ ६० ॥

नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं समवीर्यौ हतौ न किम्॥ ६१ ॥

और कदाचित् युद्धमें दोनोंकाही नाश होजाताहै क्या युद्धमें सुन्द और उपसुन्द दोनोंही परस्पर नहीं मारेगये "यह दोनों भ्राता एक स्त्री पर मोहित होगये उसस्त्रीने कहा तुम दोनोंमें जो बली होगा उसे वरूंगी यह दोनों परस्पर युद्ध करते २ मरगये इसप्रकार मायासे दोनों अजेय निशाचर मारेगये" ॥ ६१ ॥

विहीनोऽपि सुसन्धोऽपि व्यसने रिपुरागतः ।
पतन्दुनोति हिमवत्तोयबिन्दुरिव क्षितौ ॥ ६२ ॥

जनोंसे विहीन तथा भलीप्रकार सन्धानको प्राप्त हुआ भी व्यसनमें प्राप्त होकर आयाहुआ शत्रु पृथ्वीमें पतित हुए जलबिन्दुके समान गिरकर दुःखी होताहै अथवा जैसे हिमबिन्दु पृथ्वीमें गिरकर शीर्ण होताहै तैसे वह राजा दुःखी होताहै ॥ ६२ ॥

न सन्धिमिच्छेद्धीनैश्च तत्र हेतुरसंशयः ।
तस्य विश्रम्भमालभ्य प्रहरेत्तं गतस्पृहः ॥ ६३ ॥

हीनपुरुषके साथ कभी सन्धि न करे इसमें सन्देह नहीं कि,उसके साथ विश्वासपूर्वक बातचीत करनेसे वह अवसर पाकर अवश्य प्रहार करैगा ६३

बलीयसाभिसन्धाय तं प्रविश्य प्रतापवान् ।
तथा साध्वनुगन्तव्यो यथा विश्रम्भमाप्नुयात् ॥६४॥

बलवान्के साथ संधि करके तथा उसके हृदयमें प्रवेश करके प्रतापी पुरुष उसका इसप्रकार अनुगमन करे जिससे वह विश्वासको प्राप्त होजाय ६४॥

विश्रम्भी नित्यमुद्युक्तो निगूढाकारचेष्टितः ।
प्रियाण्येवाभिभाषेत यत्कार्यं कार्य्यमेव तत् ॥ ६५ ॥

विश्वासको प्राप्तकरताहुआ, नित्य उद्योगी अपना आकार और चेष्टा छिपाये हुए प्रियवचन बोलता हुआ कार्यको साधताहै ॥ ६५ ॥

विश्रम्भात्प्रियतामेति विश्रम्भात्कार्यमृच्छति ।
विश्रम्भेण हि देवेन्द्रो दितेर्गर्भमघातयत् ॥ ६६ ॥

विश्वाससेही प्रियताको प्राप्त होताहै, विश्वाससेही कार्यकी सफलताको प्राप्त होताहै देखो विश्वाससेही इन्द्रने दितिका गर्भ नष्ट करदियाथा× ॥ ६६॥

युवराजेन सन्धाय प्रधानपुरुषेण वा ।
ततः प्रकोपं जनयेदभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ६७ ॥

युवराज वा प्रधानपुरुषसे मेलकरके पीछे चढाई करनेको स्थिरमतिवाले पर क्रोध करे ॥ ६७ ॥

अथोत्सर्गेण महता लेखैश्चाप्यात्मसंहितैः ।
प्रधानपुरुषस्येह प्रकुर्वीतात्मदूषणम् ॥ ६८ ॥

विशेष धनादिक दानसे अपनी ओरके लेखोंसे तथा प्रधनापुरुषोंसे इस शत्रुको दूषित करावे अथवा इस शत्रुराजाके प्रधानपुरुषको दूषित करावे ६८

× एक समय हतपुत्रा दितिने कश्यपजीको प्रसन्नकर यह वरमांगा कि, मेरे ऐसा पुत्रहो जो इन्द्रको मारे उन्होंने तथास्तु कह एक व्रत बताया और कहा बालकके प्रगट होनेतक सर्वथा शुद्ध रहना, यह कह उसको आलिंगनकर तपकरने चलेगये, दिति गर्भ धारणकर शुद्धतासे रहने लगी, इन्द्र इस मर्मको जानकर दितिकी सेवा करने लगे एकदिन दिति अशुचि मुखसे पायतकी ओर मुखकर सोगई यह देखकर इन्द्र वज्र ले दितिके उदरमें प्रवेश कर गये, और गर्भके ४९ खण्ड करडाले और इन्द्र उन सबके साथ बाहर आये वेही सब मरुत कहाये ।

दूषिते हि महामात्रे रिपुरुग्रोऽपि धीमता ।
स्वपक्षे यस्य विश्वास इत्थं भूतश्च निष्क्रियः ॥ ६९ ॥

जिस समय प्रधानपुरुष दूषित होजाय तो बुद्धिमान् उग्र शत्रुभी अपने पक्षमें जिसका विश्वास हो उसेही नियत करे यह निश्चयहै ॥ ६९ ॥

अरेरमात्यान्सन्धाय तदवस्थं समुन्नयेत् ।
भिषग्भेदेन वा शत्रुं रसदानेन साधयेत् ॥ ७० ॥

शत्रुके अमात्योंसे मेलकर उस राजाको अपने वशीभूत करे अथवा किसी वैद्यसे मिलकर कोई रस दिवाय शत्रुको साधे ॥ ७० ॥

अरेः सर्वप्रयत्नेन पश्चात्कोपं प्रकल्पयेत् ।
पश्चात्कोपमथातिष्ठन्ननुस्मृत्य प्रसाधयेत् ॥ ७१ ॥

सब प्रयत्नसे शत्रुको वशीभूत करके पीछे उसपर क्रोध दिखावे और उसके कार्योंको स्मरणकर क्रोधको प्राप्त हो अपना कार्य साधे ॥ ७१ ॥

उद्देशकृतसंवासैश्चरैर्नैमित्तिकैररेः ।
उपोढव्यसनादेशं कारयेत्साधुलक्षणैः ॥ ७२ ॥

किसी बहानेसे उसके देशमें अपने पुरुषोंका निवास कराकर तथा नैमित्तिक कार्यवश अपने दूतोंको भेजकर जो अच्छे लक्षणवाले हों उनसे राजाके देशको व्यसनसंयुक्त करे ॥ ७२ ॥

क्षयव्ययायासवधादिदोषं व्यपेक्ष्ययावेक्षितसाधुकृत्यः ।
कामात्तुपीडामपिकाश्चिदिच्छेन्न विग्रहं तत्प्रभवा हिदोषाः ७३

क्षय, विशेषखर्च, श्रम और वधादि दोषको विचारता हुआ अथवा साधुकृत्य दिखाता हुआ किसी कामनासे वृथा पीडा देनेकी इच्छा न करे न विग्रह करे। कारण कि, विग्रहसेही क्षय, व्यय आदि दोष उत्पन्न होतेहैं ॥ ७३ ॥

आत्मा बलं वा सुहृदो धनानि वृथा भवन्तीह निमेषमात्रात् ।

मुहुर्मुहुश्चाकुलितानितानि तस्मान्न विद्वान्नतिविग्रही स्यात् ७४

अपना शरीर, बल, सुहृद्वर्ग और धन यह एक पलकमात्रमें दूसरेके होजाते हैं और वे सब वारंवार व्याकुल होते हैं इसकारण विद्वानको अतिविग्रह नहीं करना चाहिये ॥ ७४ ॥

सुहृद्धनं तथा राज्यमात्मानं कीर्त्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थं कोहि कुर्यादबालिशः ॥ ७५ ॥

अपने सुहृद्, धन, राज्य, आत्मा और कीर्त्ति यह युद्धकी तराजूमें स्थित होजाते हैं जाने किधरका पल्ला भारी होजाय तो ऐसी मूर्खताके कामको कौन करै ॥ ७५ ॥

साम्ना प्रदानेन विभेदनेन सन्तापयेत्साध्वभियुज्यमानः ।
सन्धित्सुरेवास्य चसैन्यचक्रंसीमान्तमायान्तमपेतसन्धिम् ७६

चढ़ाईवालेसे युक्त हुआ साम, दान और भेदसे शत्रुको संन्तापित करे, और सन्धिकी इच्छावाला जबतक शत्रुकी सेना सीमापर न आस्थित हो तबतक संधिकी इच्छा करै और जब सीमापर आजाय तब सन्धि नहीं है ७६

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलेन धीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद्येन सुसम्प्रतप्तस्तप्ते न सन्तापमुपैति तप्तः ॥ ७७ ॥

अपनी सेनाके सहित रक्षामें स्थित होकर धैर्यवान् अपनी सेनाके सहित विचरण करता हुआ शत्रुको सन्तापित करे और स्वयं सन्तप्त हो तो भी उसे सन्ताप देनेका उद्योग करे। कारण कि, सन्तप्तसे संतापित होकर दूसराभी सन्तापको प्राप्त होता है ॥ ७७ ॥

इति स्म सन्धिं खलु सन्धिवित्तमा बभाषिरे पूर्वतरा महर्षयः ।
तदेतदेवं विजयन्नरेश्वरः समीक्ष्य कार्यं गुरु चेति तद्विधाः ७८

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सन्धिविकल्पो नाम
नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

सन्धिके जाननेवाले पूर्वकालीन महर्षियोंने इसप्रकारसे सन्धिका विचार कथन किया है, सो राजा इसप्रकारसे देखभालकर विचारसे कार्य करताहुआ विजयको प्राप्तहोता है और इसप्रकारके ज्ञाता श्रेष्ठ होते हैं ॥७८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सन्धिविकल्पो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः १०.

अमर्षोपगृहीतानां मन्युसन्तप्तचेतसाम् ।
परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥ १ ॥

दोनोंओर क्रोधको ग्रहण किये हुए क्रोधसेही सन्तप्त चित्तवाले परस्पर अपकारको प्राप्तहुए पुरुषोंका विग्रह उपस्थित होता है ॥ १ ॥

आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा ।
देशकालबलोपेतः प्रारभेत हि विग्रहम् ॥ २ ॥

अपने अभ्युदयकी इच्छा करनेवाला, अथवा शत्रुसे पीडित हुआ अच्छे देशकाल और सेनासे युक्त होकर विग्रह आरम्भ करै ॥ २ ॥

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां यानस्य च धनस्य च ।
अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा ॥ ३ ॥

राज्य, स्त्री, स्थान, देश, देशको पीडित सवारी, धन इनका हरणकर लेना, मद मान होना, करना ॥ ३ ॥

ज्ञानार्थधर्मशक्तीनां विघातो दैवमेव च ।
मित्रार्थश्चापमानश्च तथा बन्धुविनाशनम् ॥ ४ ॥

अपनी धर्मशक्तिके ज्ञानके निमित्त अथवा दैवके रुष्ट होनेसे, मित्रके निमित्त, वा अपमान होनेसे तथा बन्धुविनाशके कारणसे ॥ ४ ॥

भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम् ।
एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः ॥ ५ ॥

प्राणियोंके अनुग्रहके बिगडनेसे, वा मण्डलके दूषित करनेसे तथा एक प्रयोजनमें दोनोंके लगनेसे विग्रह उपस्थित होता है ॥ ५ ॥

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां दानेन च मदेन च ।
विग्रहस्य तु युक्तिज्ञैरिति प्रशमनं स्मृतम् ॥ ६ ॥

युक्तिके जाननेवालोंने राज्य, स्त्री, स्थान और देशोंके निमित्त जो विग्रह उपस्थित हुआ है उसकी शान्ति उसके लौटादेनेसे कही है, इस प्रकारसे उसकी शान्ति करे ॥ ६ ॥

एतदेव तु विज्ञेयं स्वार्थधर्मविघातजे ।
विषयध्वंसजे शत्रोर्विषयप्रतिपीडनम् ॥ ७ ॥

यही बात अपने स्वार्थ और धर्मके विघात हुए विग्रहमें जाननी, जिसने अपना देशध्वंस कियाहो उस शत्रुका देश पीडित करनेसे वह विग्रह शान्त होता है ॥ ७ ॥

यानापहारसम्भूते ज्ञानशक्तिविघातजे ।
समस्तदर्थश्चाङ्केन क्षान्त्या चोपेक्षणेन च ॥ ८ ॥

जो सवारी आदिके हरणसे विग्रह उपस्थितहो वा ज्ञान और ज्ञानशक्तिके विघातसे उत्पन्न हुए विग्रहमें लेलीहुई वस्तुके फेर देनेमें ज्ञानशक्तिकी बातकी उपेक्षा करनेसे विग्रह शान्त होताहै वा दोनों प्रकारके विग्रह सहनशीलतासे शान्त होजाते हैं ॥ ८ ॥

अधर्मद्रोहसंयुक्ते मित्रजात उपेक्षणम् ।
आत्मवान्मित्रवर्गे तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ ९ ॥

अधर्म द्रोहसे विग्रह होनेमें तथा मित्रके साथ किसीने बिगाड किय

हो तो वह अपेक्षासे शान्त होजाता है, परन्तु बुद्धिमान् मित्रवर्गके विरोधी के साथ विग्रह करके प्राणभी समर्पण करदे ॥ ९ ॥

अपमानात्तु सम्भूतं मानेन प्रशमं नयेत् ।
सामपूर्व उपायो वा प्रणामो वाभिमानजे ॥ १० ॥

जो अपमानसे विग्रह उपस्थित हुआहो उसको मान देकर शान्त करै जो अभिमानसे उत्पन्न हुआ हो उसको सामपूर्वक उपाय और प्रणामसे शान्त करै ॥ १० ॥

विग्रहं नाशयेद्धीरो बन्धुनाशसमुद्भवम् ।
येन पीडा न जायेत तादृशं सुविचक्षणः ॥ ११ ॥

जो विग्रह बन्धुके नाशसे उत्पन्न हुआहो इसमें बुद्धिमान् वह उपाय करै जिसमें शत्रुको घोर पीडा उपस्थित हो इसका यही उपाय है ॥११॥

कुर्यादर्थपरित्यागमेकार्थाभिनिवेशजे ।
धनापचारजाते तन्निरोधं न समाचरेत् ॥ १२ ॥

जो एकही प्रयोजनके निमित्त विग्रह उपस्थित हुआ हो उन दोनोंमेंसे एकको अपना प्रयोजन त्याग देना चाहिये जो धनके अपचारसे हुआ हो फिर उसका निरोध न करनेसे वह विग्रह शान्त होजाता है ॥ १२ ॥

कदाचिद्विग्रहे पुंसां सर्वनाशस्तु जायते ।
महाजनसमुत्पन्नं भेदेन प्रशमं नयेत् ॥ १३ ॥

कारण कि, विग्रह करनेमें पुरुषोंका कभी २ सर्वनाश होजाता है, और महाजनोंद्वारा उत्पन्न विग्रहको भेदसे शान्त करै ॥ १३ ॥

भूतानुग्रहविच्छेदजाते तत्र वदेत्प्रियम् ।
दैवमेव तु दैवोत्थे शमनं साधुसम्मतम् ॥ १४ ॥

जो प्राणियोंके अनुग्रहविच्छेदसे विग्रह हुआहो प्रियवचनसे उसको शांतकरै और जो दैवकोपसे विग्रह हुआ हो तो दैवकी प्रसन्नतासे उसे शान्तकरै १४॥

मण्डलक्षोभसम्भूतमुपायैः प्रशमं नयेत् ।
सापत्न्यं वास्तुजं स्त्रीजं वाऽज्ञातमपराधजम् ॥१५॥

जो मण्डलके क्षोभसे विग्रह हुआ हो तो उपायोंद्वारा उसे शान्त करै, सापत्नतासे उत्पन्न, वस्तुके निमित्तसे, स्त्रीके निमित्तसे वा अज्ञात तथा अपराधसे उत्पन्न ॥ १५ ॥

वैरप्रभेदनिपुणैर्वैरं पञ्चविधं स्मृतम् ।
जातं भूम्युपरोधेन तथा शक्तिविघातजम् ॥ १६ ॥

यह पाँच प्रकारके वैर वैरके भेद जाननेवालोंने कहे हैं जो भूमिहरण तथा शक्तिके विघातसे उत्पन्न हो ॥ १६ ॥

भूम्यनन्तरजातं तु मण्डलक्षोभजन्तथा ।
चतुर्विधं वैरजातं बहुदन्तीसुतोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

तथा दूसरी भूमियोंपर तथा मण्डलक्षोभके कारण उत्पन्न हुआहो यह चार प्रकारका वैर बहुदन्तीके पुत्रने कहा है ॥ १७ ॥

कुलापराधजे वैते मन्यन्ते द्वे च मानवाः ।
किञ्चित्फलं निष्फलञ्च सन्दिग्धफलमेव च ॥१८॥

कुछ और अपराधके कारण उत्पन्नहुए वैरोंके दो भेद मनुने मानेहैं, वा मनुष्योंके होते हैं कुछ फलवाले, निष्फल तथा सन्दिग्ध फलवाले॥१८॥

तदात्वे दोषजननमायत्याञ्चैव निष्फलम् ।
अपरिज्ञातवीर्येण दुष्टेन स्तम्भितोऽपि वा ॥ १९ ॥

उसकी प्राप्तिमें अर्थात् वर्तमानकालमें दोषोंके प्रगट करनेवाले और आनेवालेकी सामर्थ्यको जानकर वा दुष्टके बँहकानेपर ॥ १९ ॥

परार्थं स्त्रीनिमित्तञ्च दीर्घकालं द्विजोत्तमैः ।
अकाले दैवयुक्तेन बलोद्धतसखेन च ॥ २० ॥

दूसरेके निमित्त, स्त्रीके निमित्त, दीर्घकालतक श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे वैरसाधनेसे, अकालमें दैवयुक्त होनेसे, बलसे मित्रको उच्छिन्न करनेसे ॥ २० ॥

तदात्वे फलसंयुक्तमायत्यां फलवर्जितम् ।
आयत्यां फलसंयुक्तं तदात्वे निष्फलं तथा ॥ २१ ॥

वर्तमानमें फलकी प्राप्ति दीखनेसे, आगामिकालमें फलप्राप्ति न होनेमें वा आगामिकालमें फलकी प्राप्ति होनेमें और वर्तमानमें निष्फल ॥ २१ ॥

इतीमं षोडशविधं न कुर्यादेव विग्रहम् ।
तदात्वायतिसंशुद्धमारभेत विचक्षणः ॥ २२ ॥

इसप्रकार यह सोलहप्रकारके विग्रह न करने चाहिये, जो वर्तमान और आगामिकालमें शुद्धहो उसको बुद्धिमान् आरंभ करै ॥ २२ ॥

तदात्वायतिशुद्धानि सर्वकर्म्माणि चिन्तयेत् ।
तदात्वायतिसंशुद्धमातिष्ठन्नैव वाच्यताम् ॥ २३ ॥

वर्तमान और आगामिकालमें शुद्धफल देनेवाले सब कार्योंका आरंभ करै इन दोनोंकी शुद्धि विचारनेवालेकी निन्दा नहीं होती है ॥ २३ ॥

साधु लोकद्वयग्राहि विद्वान् कर्म समाचरेत् ।
परित्यजेदमुं लोकं नार्थलेशोपलोभितः ॥ २४ ॥

जो श्रेष्ठ और दोनोंलोकोंका हितकारी कर्म हो बुद्धिमान्को उसीका आरंभ करना चाहिये, और अर्थके लोभी बनकर केवल इसी लोकके उपयोगी कर्मको न करै ॥ २४ ॥

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् ।
इत्यागमप्रमाणत्वात्साधुकल्याणमाचरेत् ॥ २५ ॥

परलोकके विरुद्धकर्मोंके करनेवालेको दूरसेही त्यागदे, इसप्रकार शास्त्रके प्रमाणसे साधुकल्याणकारी कर्म करै ॥ २५ ॥

यदा मन्येत मतिमान्हृष्टपुष्टं स्वकं बलम् ।
परस्य विपरीतञ्च तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २६ ॥

जब बुद्धिमान् अपनी सेनाको हृष्ट पुष्ट देखै, और शत्रुकी इसके विपरीत देखैं तब विग्रह करै ॥ २६ ॥

स्फीतं चाप्यनुरक्तञ्च यदा प्रकृतिमण्डलम् ।
परस्य विपरीतञ्च तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २७ ॥

जब अपना प्रकृतिमण्डल भरापुरा और अनुरक्तहो और शत्रुका इसके विपरीतहो तब विग्रह करै ॥ २७ ॥

भूमिर्मित्रं हिरण्यञ्च विग्रहस्य फलं त्रयम् ।
यदैतन्नियतं भावि तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २८ ॥

भूमि, मित्र और सुवर्ण विग्रहके यह तीन फलहैं, जब यह तीन अवश्य मिलनेकी संभावनाहो तब विग्रह करै ॥ २८ ॥

गुरु वित्तं ततो मित्रं तस्माद्भूमिर्गरीयसी ।
भूमेर्विभूतयः सर्वास्ताभ्यो बन्धुसुहृद्गणाः ॥ २९ ॥

सब वस्तुओंसे धन, धनसे मित्र, उससे भूमि, भूमिसे ऐश्वर्य, उससे बन्धु और सुहृद्गण विशेषहैं ॥ २९ ॥

सर्वसम्पत्समे शत्रावुपायान्निक्षिपेद्बुधः ।
उपायैरप्यतिव्यूढैः समे दण्डोऽपि शस्यते ॥ ३० ॥

पंडितको उचितहै कि, सबप्रकारसे अपनी सम्पात्तिके समान शत्रुपरही अभिगमन करै, और अतिदुरूह उपायोंसे वशीभूत करै कारण कि, बराबरवालेमें ही दण्डपातकी सराहनाहै ॥ ३० ॥

आगतं विग्रहं विद्वानुपायैः प्रशमन्नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसेन न सम्पतेत् ॥ ३१ ॥

विद्वान्को उचितहै कि, प्राप्तहुए उपायोंसे विग्रहको शान्तकरै, कारण कि विजयकी प्राप्ति अचल नहीं है, एकाएकी किसीके ऊपर प्रहार न करै॥ ३१॥

समाक्रान्तो बलवता काङ्क्षन्नभ्रंशिनीं श्रियम् ।
आश्रयेद्वैतसीं वृत्तिं न भौजङ्गीं कथञ्चन ॥ ३२ ॥

बलवान्से आक्रान्त हुआ अचल लक्ष्मीको प्राप्तकरता हुआ वेतके समान वृत्तिका आश्रय करै कि जैसे पवन आदिके वेग आनेसे वेत झुकजातेहैं सर्पकी वृत्ति (कि छूतेही फण उठाकर काटनेको उद्यत होताहै) का आश्रय कभी न करै ॥ ३२ ॥

क्रमाद्वेतसवृत्तिः सन्प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिराप्नोति वधमेव तु केवलम् ॥ ३३ ॥

क्रमसे वेतसम्बन्धी वृत्तिका आश्रय करनेवाला बड़ी लक्ष्मीको प्राप्त होताहै, और सर्पवृत्तिवाला केवल वधकोही प्राप्त होताहै ॥ ३३ ॥

मत्तप्रमत्तवत् स्थित्वा ग्रसेदुत्प्लुत्य पण्डितः ।
अपरिभ्रश्यमानं हि क्रमप्राप्ते मृगेन्द्रवत् ॥ ३४ ॥

मत्त और प्रमत्तके समान बाहरी दिखावसे स्थितहुआ कूदकर बुद्धिमान् आक्रमणकरै, जैसे कि सिंह ऐसा कूदकर प्रहार करताहै कि वह खाली नहीं जाता ॥ ३४ ॥

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
काले प्राप्ते तु मतिमानुत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ३५ ॥

और कछुएके समान अंग संकोचकर शत्रुका प्रहारभी सहन करै, और बुद्धिमान् फिर समय देखकर क्रूरसर्पके समान उठै ॥ ३५ ॥

काले सहिष्णुर्गिरिवदसहिष्णुश्च वह्निवत् ।
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्प्रियाणि समुदाहरन् ॥ ३६ ॥

समयपर पर्वतकेसमान सहनशील हो और अग्निकेसमान असहनशील

हो और समयपर प्रियवचन कहताहुआ कंधेपरभी शत्रुको उठावै ॥ ३६॥

प्रसादवृत्त्या हितलोकवृत्तया प्रविश्य शत्रोर्हृदयं निरन्तरम् ।
नयाग्रहस्तेनहिकालउच्छ्रितःप्रसह्यकुर्वीतकचग्रहंश्रियः॥ ३७॥

प्रसन्नताकी वृत्तिसे लोककी हितकारीवृत्तिसे शत्रुके हृदयमें निरन्तर प्रवेश करके समयपर नीतिके हाथोंसे बलात्कारसे उसकी लक्ष्मीके केशग्रहणकरै ३७

कुलोद्गतं सत्यमुदारविक्रमं स्थिरं कृतज्ञं धृतिमन्तमूर्जितम् ।
अतीवदातारमुपेतवत्सलं सुदुःप्रसाध्यं प्रवदन्तिविद्विषम्॥ ३८॥

कुलसें प्राप्त सत्य और उदारविक्रमवाले, स्थिरमति, कृतज्ञ, बुद्धिमान् प्रभावशील, अतिदानी, शरणागतवत्सल शत्रु बडी कठिनाईसे वशीभूत होसकताहै ॥ ३८ ॥

असत्यता निष्ठुरताऽकृतज्ञता भयं प्रमादोऽलसता विषादिता ।
वृथाभिमानो ह्यतिदीर्घसूत्रतातथाङ्गनाक्षादिविनाशनंश्रियः ३९

असत्यता, निठुराई, अकृतज्ञता, भय, प्रमाद, आलस्य, विषाद, वृथा अभिमान, अतिदीर्घसूत्रता, तथा निरन्तर स्त्रीसमागम और पाशेका खेल यह लक्ष्मीके विनाश करनेवालेहैं ॥ ३९ ॥

इति स्मदोषान्वितमाशुविद्विषंत्रिशक्तियुक्तोविजिगीषया व्रजेत् ।
अतोऽन्यथा साधुजनस्यसम्मतंकरोतिविघातमुपघातमात्मनः ४०

इसप्रकारके दोषयुक्त राजापर जीतनेकी इच्छा करनेवाला तीन शक्तियुक्त होकर चढाई करै, इससे अन्यथा साधुजनसम्मतपर चढाई करनेसे वह अपनाही घात करताहै ॥ ४० ॥

समन्वितो राज्यपदोन्निनीषया चरेक्षणैर्वीक्षितमण्डलक्रियः ।
इमंनृपोविग्रहमार्गमास्थितःस्थिरोद्यमःसम्प्रयतेतसिद्धये॥ ४१॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विग्रहकल्पो नाम
दशमः सर्गः ॥ १० ॥

राज्यपदकी उन्नतिकी इच्छा करताहुआ अपने दूतोंसे मण्डलकी क्रिया देखनेवाला राजा इसप्रकार विग्रहके मार्गमें स्थितहुआ सिद्धिके निमित्त स्थिरतासे उद्यम करै ॥ ४१ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भा०टी० विग्रहकल्पोनामदशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः ११.

उत्कृष्टबलवीर्यस्य विजिगीषोर्जयैषिणः ।
गुणानुरक्तप्रकृतेर्यात्रायानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

बलवीर्यमें उत्कृष्ट, जीतनेकी इच्छावाले,जयशील,प्रकृतिके गुणोंमें अनुरक्त राजाकी यात्रा यान कहीहै ॥ १ ॥

विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः ।
उपेक्षा चेति निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ २ ॥

लड़ाईके लिये, मिलकर, इकट्ठा होकर और प्रसंगसे, उपेक्षासे यह पांच प्रकारका यान (चढाई) विद्वानोंने कहीहै ॥ २ ॥

विगृह्य याति हि यदा सर्वाञ्छत्रोर्गणान् बलात् ।
विगृह्ययानं यानज्ञास्तदाचार्याः प्रचक्षते ॥ ३ ॥

जब शत्रुओंके गणके ऊपर बलसे लड़ाई करके गमनकरे, उसको यान के जाननेवाले आचार्य विगृह्ययान कहते हैं ॥ ३ ॥

अरेर्मित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतो बलात् ।
विगृह्य चाभिगमनं विगृह्यगमनं स्मृतम् ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण शत्रुके मित्रोंको अपने सब मित्रोंके संग बलसे लड़ाकर शत्रुपर जो चढनाहै उसको विगृह्ययान कहते हैं ॥ ४ ॥

सन्धायान्यत्र यात्रायां पार्ष्णिग्राहेण शत्रुणा ।

सन्धायगमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः ॥ ५ ॥

अन्यपर चढाईके समय पीछेके शत्रुके साथ संधिकरके गमन करनेवालेको जीतनेके फलके अभिलाषी राजाका संधायगमन कहतेहैं ॥ ५ ॥

एकीभूय यदैकत्र सामन्तैः साम्परायिकैः ।
शक्तिशौचयुतैर्यानं सम्भूयगमनं हि तत् ॥ ६ ॥

जब एकराजा अपने सामंत साथी उन राजाओंके संग मिलकर गमन करै जो सामन्त अर्थ और बलसे युक्त हो उसे सम्भूयगमन कहतेहैं ॥६॥

उभयोरपि यद्यानं द्वयोः प्रकृतिनाशने ।
सम्भूययानं तत्प्रोक्तं हनुमत्सूर्ययोरिव ॥ ७ ॥

अथवा जहां दो जने मिलकर शत्रुकी प्रजानाशके लिये चलते हैं उसका नामभी सम्भूययान है जिसप्रकार हनूमान् सूर्यके समीप साथ चल कर गमन करतेथे ॥ ७ ॥

अल्पसारानुपादाय प्रतिज्ञाय फलोदयम् ।
गम्यते यत्परञ्जेतुं सम्भूयगमनं हि तत् ॥ ८ ॥

थोडी सेनालिये फलके उदयकी इच्छा कर जो शत्रुके ऊपर चढाई है उसको सम्भूययान कहते हैं ॥ ८ ॥

अन्यत्र प्रस्थितः सङ्गादन्यत्रैव च गच्छति ।
प्रसङ्गयानं तत्प्रोक्तमत्र शल्यो निदर्शनम् ॥ ९ ॥

यदि अन्यत्र चढाईके लिये गमन करता हुआ अन्यत्रही चलाजाय तो यानके ज्ञाता मन्त्रीजन उसे प्रसंगयान कहते हैं, जैसे शल्य एक जगह जाकर दूसरी जगहको चलागया ॥ ९ ॥

रिपुं यातस्य बलिनः सम्प्राप्याविष्कृतं फलम् ।
उपेक्ष्य तन्मित्रयानमुपेक्षायानमुच्यते ॥ १० ॥

जो बलवान् राजा शत्रुपर गमन करै और वहां विपरीत फल मिले तो उसकी उपेक्षा (छोडने) को उपेक्षायान कहते हैं ॥ १० ॥

निवातकवचान् हित्वा हिरण्यपुरवासिनः ।
उपेक्षायानमास्थाय निजघान धनञ्जयः ॥ ११ ॥

जिसप्रकार अर्जुनने हिरण्यपुरवासी जनोंको छोडकर अर्थात् उनकी उपेक्षा करके निवातकवचोंका संहार किया यह कथा भारतमें प्रसिद्धहै ११॥

स्त्रियोऽथ पानं मृगया तथाऽक्षा दैवोपघातश्च बहुप्रकारः ।
इति प्रदिष्टं व्यसनं ह्यनेन समन्वितो यो व्यसनी स गम्यः १२

स्त्रियोंमें अनुरक्त, मद्यपान तथा मृगयामें आसक्त, पासे खेलनेवाले दैवोपघाती, प्रारब्धसे हीनता इत्यादि बहुत प्रकारके व्यसन हैं, इनसे जो युक्त है वही गमनके योग्य है अर्थात् उसपर चढाई करै ॥ १२ ॥

परस्परस्य सामर्थ्यविघातादासनं स्मृतम् ।
अरेश्च विजिगीषोश्च तत्पञ्चविधमुच्यते ॥ १३ ॥

परस्परकी सामर्थ्यके विघातसे जो युद्धसे बैठ रहनाहै कि,जिसमें शत्रु और जयशीलकी सामर्थ्य नष्ट होती हो उसको नष्ट न करके जो बैठ रहना है उसको आसन कहते हैं वह पांचप्रकारका है ॥ १३ ॥

अन्योन्याक्रान्तिकरणं निगृह्यासनमुच्यते ।
अरिं विगृह्यावस्थानं विगृह्यासनमुच्यते ॥ १४ ॥

परस्पर एक दूसरेके आक्रमणके निमित्त स्थित होनेको विगृह्यासन कहते हैं अथवा शत्रुसे विग्रह करके बैठ रहनेको विगृह्यासन कहते हैं१४

यदा दुर्गस्थितः शत्रुर्ग्रहीतुं नैव शक्यते ।
विगृह्यैनं तदासीत च्छित्त्वास्यासारवीवधान् ॥ १५ ॥

जिससमय दुर्गमें स्थितहुआ शत्रु ग्रहण न कियाजाय तब इससे विग्रह कर इसके सेना सामग्री धान्यादि और मार्गको छेदन कर स्थितहोरहै१५

विच्छिन्नवीवधासारं प्रक्षीणयवसैन्धवम् ।
विगृह्यमानः प्रकृतिं कालेनैव वशन्नयेत् ॥ १६ ॥

शत्रुके भारढोनेकी बँहगी छकडे भुसई धनको नष्ट करके शत्रुकी प्रजामें जब राजाके संग अनबन तथा युद्ध देखै उससमय शत्रुको वशीभूत करै॥ १६॥

अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीयमानयोः ।
सन्धाय यदवस्थानं सन्धायासनमुच्यते ॥ १७ ॥

जब शत्रु और जीतनेवाला दोनों युद्धमें हीन होजाँय उस समय मिलकर बैठ रहनेको संधायआसन कहते हैं ॥ १७ ॥

निवातकवचैः सार्द्धं रावणः शत्रुरावणः ।
ब्रह्माणमन्तरा कृत्वा सन्धायासनमास्थितः ॥ १८ ॥

जिसप्रकार शत्रुके रुवानेवाले रावणने निवातकवचोंसे युद्धकर फिर ब्रह्माजीको बीचमें कर सन्धायआसनसे स्थिति की ॥ १८ ॥

उदासीने मध्यमे च समानप्रतिशङ्कया ।
एकीभूय समुत्थानं सम्भूयासनमुच्यते ॥ १९ ॥

उदासीन और मध्यवृत्तिवालेमें अपनी समानताकी शंकासे जो मिलकर स्थितहो समुत्थान करना है उसको सम्भूयआसन कहते हैं ॥१९॥

उभयाराहिं वाञ्छेत विनाशमुभयोरपि ।
सम्भूयेन प्रतिव्यूहेदधिकं तत्त्वधर्मणा ॥ २० ॥

जब दोनोंही दोनोंके नाशकी इच्छा करतेहों तो धर्मका जाननेवाला सम्भूयासनमें स्थितहुआ सेनाको व्यूहितकरै ॥ २० ॥

यियासोरन्यमन्यत्र प्रसङ्गेनेह केनचित् ।
आसनं यत्तदर्थज्ञैः प्रसङ्गासनमुच्यते ॥ २१ ॥

अन्यस्थानमें गमनकी इच्छासे अन्यत्र गमन करके जो स्थिति कर रह जानाहै उसको प्रसंगासन कहतेहैं ॥ २१ ॥

आस्ते प्रेक्ष्यारिमधिकमुपेक्षासनमुच्यते ।
उपेक्षां कृतवानिन्द्रः पारिजातग्रहं प्रति ॥ २२ ॥

जो शत्रुको अधिक जानकर उसके बलके कारण उपेक्षा करके स्थितहो रहनाहै उसको उपेक्षासन कहते हैं। जैसे जब कृष्णचन्द्रने सत्यभामाके निमित्त स्वर्गसे कल्पवृक्ष हरण किया तब इन्द्रने अधिक बल जानकर उनके साथ युद्ध न किया उपेक्षा कर बैठरहा ॥ २२ ॥

उपेक्षितस्य चान्यैस्तु कारणेनेह केन चित् ।
आसनं रुक्मिण इव तदुपेक्षासनं स्मृतम् ॥ २३ ॥

वा किसी कारणसे दूसरोंसे उपेक्षित होनेसे रुक्मीके समान स्थितहो रहनेका नाम उपेक्षासनहै। जिसप्रकार कृष्णसे युद्ध करने उपरान्त रुक्मी-को जब किसीने सहायता न दी तब वह उपेक्षाकर बैठरहा ॥ २३ ॥

बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् ।
द्वैधीभावेन वर्त्तेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥ २४ ॥

बली शत्रुओंके मध्यमें वाणीसे अपनेको समर्पण करताहुआ काकके नेत्रकी समान कभी किसीको कभी किसीको देखताहुआ द्वैधीभावसे वर्तै कि किसीको प्रतीति न हो ॥ २४ ॥

यापयेद्यत्नमास्थाय सन्निकृष्टमरिं तयोः ।
उभयोरपि सम्पाते सेवेत बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

उन दोनों शत्रुओंके समीप होनेपर यत्नसे स्थितहो समय बितावे और जब दोनोंहीकी चढाईहो तो बलवान्का आश्रय करे ॥ २५ ॥

यदा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदेः ।
तदोपगच्छेत्तच्छत्रुमधिकं वापि संश्रयेत् ॥ २६ ॥

और जब क्रोधके कारण वे दोनोंही मेलकी इच्छा न करैं तब उनके शत्रुसे मेलकरे वा उनसे अधिकका आश्रय करे ॥ २६ ॥

द्वैधीभावो द्विधा प्रोक्तः स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ।
स्वतन्त्र उक्तो ह्यन्यस्तु यः स्यादुभयचेतनः ॥ २७ ॥

स्वतंत्र और परतंत्र और भेदसे दो प्रकारका द्वैधीभाव कहाहै, अपने आधीन स्वतंत्र और दूसरेके आश्रयको देखना परतंत्रहै ॥ २७ ॥

उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भूतं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ॥ २८ ॥

जब शत्रु उच्छेद करनेको उद्यत हो और प्रतीकारका कोई उपाय नहो तो कुलमें वृत्त सत्यशील बलवान् आर्य्यपुरुषका आश्रय करे ॥ २८ ॥

तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता ।
तत्कारिता प्रश्रयिता वृत्तं संश्रयिणः स्मृतम् ॥ २९ ॥

उसके दर्शनमें प्रीतिहोनी नित्य उसके भावमें भावित रहना, उसीके कार्यमें तत्परता यह आश्रितकी वृत्तिका लक्षणहै ॥ २९ ॥

आशिक्षितनयःसिंहो हन्तीमं केवलं बलात् ।
तञ्च धीरो नरस्तेषां शतानि मतिमाञ्जयेत् ॥ ३० ॥

नीतिको न सीखेहुए सिंह केवल बलसेही नष्ट करताहै, और शिक्षित धीरपुरुष अपनी नीतिसे उन सैकडोंको मारताहै ॥ ३०

पश्यद्भिर्दूरतोऽपायान्सूपायप्रतिपत्तिभिः ।
भवन्ति हि फलायैव विद्वद्भिश्चिन्तिताःक्रियाः॥ ३१॥

दूरसेही विपत्तियोंको आताहुआ देखकर ज विद्वान् पहलेसेही उनकी प्रतिक्रियाको विचारताहै, तो वह उनकी विचारीहुई क्रिया फलवती होतीहै ३१॥

उपायपूर्वं लिप्सेत कालं वीक्ष्य समुत्पतेत् ।
पश्चात्तापाय निर्दिष्टा विक्रमैकरसज्ञता ॥ ३२ ॥

उपायपूर्वकही किसी वस्तुकी इच्छाकरे और समय देखकर आक्रमण करे और केवल विक्रमहीकी रसज्ञता पश्चात्तापके निमित्त कहीगई है ॥ ३२॥

शक्याशक्यपरिच्छेदं कुर्याद्बुद्ध्या प्रसन्नया ।
केवलं दन्तभङ्गाय दन्तिनः शैलताडनम् ॥ ३३ ॥

अपनी निर्मल बुद्धिसे शक्य और अशक्यका परिच्छेद करना चाहिये जो विना विचारे कियाजाय तो हाथीका पर्वतपर प्रहार केवल दांतोंके भङ्गकेही निमित्त होताहै ॥ ३३ ॥

अशक्यारम्भवृत्तीनां कुतः क्लेशादृते फलम् ।
भवन्ति परितापिन्यो व्यक्तं कर्मविपत्तयः ॥ ३४ ॥

जो अशक्य होकर किसीकार्यका आरम्भ करते हैं, उनको क्लेशके सिवाय और क्या लाभहै, कर्मोंसे आईहुई विपत्ति परिताप देनेवाली होतीहै ३४

बुद्ध्या बोधानुगतया परीयात्सम्पदः पदम् ।
सुविशुद्धपदन्यासः पर्वताग्रमिवोदितम् ॥ ३५ ॥

ज्ञानसम्पन्न बुद्धिसे विचार करनेसे मनुष्य सम्पत्तिके पदको प्राप्तहोता है, जैसे समझकर चरण रखनेसे मनुष्य पर्वतके ऊपर पहुँचजाताहै ॥ ३५॥

दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
अल्पेनाप्यपचारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ३६ ॥

सब लोकोंके नमस्कार करनेयोग्य राजपदपर आरूढ होना बड़ा कठिनहै, वह थोडेहीसे अपचार(दुष्कर्म)से ब्राह्मणताकी समान दूषित होजाताहै ३६॥

प्रारब्धानि यथाशास्त्रं कार्याण्यासन्नबुद्धिभिः ।
वनानीव मनोहारि प्रयच्छन्त्यचिरात्फलम् ॥ ३७ ॥

जो कार्य शास्त्रके अनुसार बुद्धिके आसनपर स्थित होकर किये जाते हैं, वह मनोहर वनके समान होकर बहुत शीघ्र फल देनेवाले होतेहैं॥ ३७॥

सम्यगारभ्यमानं हि कार्यं यद्यपि निष्फलम् ।
न तत्तथा तापयति यथा मोहसमीहितम् ॥ ३८ ॥

भलीप्रकार आरम्भ कियाहुआ कार्य यदि निष्फल भी होजाय तो वह इसप्रकार ताप नहीं देता जैसा मोहयुक्त होकर करनेसे ताप देता है ॥ ३८॥

यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेतद्विपर्ययम् ।
पुमांस्तन्नानुपालभ्यो दैवान्तारितपौरुषः ॥ ३९ ॥

जो भलीप्रकारसे आरम्भ किया कार्य विपरीत होजाय तो पुरुषको उसमें ताना देना न चाहिये कारण कि, उस पुरुषार्थके बिगाड़नेमें दैव कारण है ॥ ३९ ॥

प्रयत्नस्तावदास्थेयः फलायामलबुद्धिना ।
अपर्वभङ्गनिपुणं शेषं दैवसमाश्रितम् ॥ ४० ॥

निर्मल बुद्धिसे फलके निमित्त प्रयत्न करना चाहिये, और यदि वह कुसमय भंग होजाय तो उसमें दैवही कारण है ॥ ४० ॥

आत्मानञ्च परांश्चैव ज्ञात्वा धीरः समुत्पतेत् ।
एतदेव हि विज्ञानं यदात्मपरवेदनम् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् अपने और पराये बलको देखकर उसपर प्रहारकरै, यही परम विज्ञान है जो अपने और पराये बलकी भलीभाँति परीक्षा होजाय ॥४१॥

निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च ।
न कर्म कुर्यान्मतिमान्महावैरानुबन्धि च ॥ ४२ ॥

जो निष्फल बहुत क्लेश सम्पन्न तथा संदिग्ध फलवाला और विशेष वैरका अनुबन्धी हो, बुद्धिमान्को वह कर्म न करना चाहिये ॥ ४२ ॥

तदात्वायतिसंशुद्धं शुचि शुद्धक्रमागतम् ।
हितानुबन्धि च सदा कर्म सद्भिः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥

जो वर्तमान और आगामिकालमें शुद्धहो तथा शुद्ध कर्मसे प्राप्त होनेवाला और हितका अनुबन्धी (हितकारी) हो बुद्धिमानोंने सदा उसकी प्रशंसा की है ॥ ४३ ॥

हितानुबन्धि यत्कार्यं गच्छेद्येन न वाच्यताम् ।
तस्मिन्कर्मणि सज्जेत तदात्वकटुकेऽपि हि ॥ ४४ ॥

हितानुबन्धी हितकारी जो कार्य है वह वही है जिसमें निन्दा नहीं होती, उसीकर्ममें लगे, चाहैं वर्तमानमें वह कटुही दीखै ॥ ४४ ॥

बुद्ध्यैवोपक्रमः श्रेयान्फलनिष्पत्तये सदा ।
क्वचित्कल्याणमित्रस्य शस्यते सिंहवृत्तिता ॥ ४५ ॥

फल प्राप्तिके लिये बुद्धिमान् बुद्धिसे विचार कर्यारम्भकरे, हां सिंहकी समान आक्रमण कहीं उसको शोभा देता है जिसके शुद्ध मित्र हों ॥४५॥

सहसोत्प्लुत्य दुष्टेभ्यो दुष्करं सम्पदर्ज्जनम् ।
उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनाम् ॥ ४६ ॥

सहसा दुष्टोंसे उपद्रवको प्राप्त होनेसे उनपर चढकर सम्पत्तिका अर्जन करना कठिन है, और उपायसे तो मतवाले हाथियोंके मस्तकपर चरण रखदिया जाता है ॥ ४६ ॥

न किञ्चित्क्वचिदस्तीह वस्त्वसाध्यं विपश्चिताम् ।
अयोऽभेद्यमुपायेन द्रवतामुपनीयते ॥ ४७ ॥

बुद्धिमानोंको कोई वस्तुभी असाध्य नहीं है, लोहा अभेद्य होता है पर उपायसे वह भी गलजाता है ॥ ४७ ॥

वाह्यमानमयःखण्डं स्कन्धंनैवापि कृन्तति ।
तदल्पमपि धारावद्भवतीप्सितसिद्धये ॥ ४८ ॥

कन्धेपर लेजाया हुआ लोहभारभी कन्धेको नहीं करता और धारवाला वह थोडाभी मनोरथ सिद्धि (मारने) के निमित्त होता है ॥४८॥

लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारि वह्नेर्नियामकम् ।
उपायोपगृहीतेन तेनैव परिशोष्यते ॥ ४९ ॥

लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि, जलसे अग्नि बुझजाता है पर उपायद्वारा उस अग्निसेही वह जल सुखादिया जाता है ॥ ४९ ॥

अविज्ञातस्य विज्ञानं विज्ञातस्य च निश्चयः ।
अर्थद्वैधस्य सन्देहच्छेदनं शेषदर्शनम् ॥ ५० ॥

नहीं जानीहुई बातका विज्ञान और जानीहुई बातका निश्चय द्व्यर्थवाले सन्देहका छेदन करके शेष दर्शन अर्थात् निश्चय है ॥ ५० ॥

विदुषां शासने तिष्ठन्नावमन्येत कञ्चन ।
सर्वस्य चोक्तं शृणुयात्सुभाषितजिघृक्षया ॥ ५१ ॥

विद्वानोंकी आज्ञामें स्थित हुआ कभी उनका तिरस्कार न करे और सुवचन जाननेकी इच्छासे सबका कथन श्रवण करै ॥ ५१ ॥

मदोद्धतः क्रियामूढो योऽतिक्रामति मन्त्रिणम् ।
अचिरात्तं वृथामन्त्रमतिक्रामन्ति विद्विषः ॥ ५२ ॥

जो मदसे मत्त क्रियामें मूढ होकर मन्त्रियोंको अतिक्रमण करता है बहुतही शीघ्र उस वृथामन्त्रवालेको शत्रु आक्रमण करलेते हैं ॥५२॥

संरक्षेन्मन्त्रबीजं हि तद्बीजं हि महीभुजाम् ।
यस्मिन् भिन्ने ध्रुवं भेदो गुप्ते गुप्तिरनुत्तमा ॥ ५३ ॥

मन्त्रके बीजकी रक्षाकरै राजोंका यही बीज है, जिसके प्रगट होनेमें अवश्य भेद होजाता है और गुप्त रहनेसे रक्षा होती है ॥ ५३ ॥

सिंहवच्चेष्टमानस्य काले कर्म विपश्चितः ।
क्रियमाणं स्वकुल्यास्तु विदुरस्य परे कृतम् ॥ ५४ ॥

और समयपर सिंहके समान चेष्टावाले कर्ममें चतुरका किया कर्म अपने कल्याणके निमित्त होता है, जैसे विदुरके कार्य ॥ ५४ ॥

अपश्चात्तापकृत्सम्यगनुरक्तिफलप्रदः ।

अदीर्घकालोऽभीष्टश्च प्रशस्यो मन्त्र इष्यते ॥ ५५ ॥

जो पश्चात्तापका न करनेवाला हो सम्यक् अनुरक्तिका फल देनेवाला हो, थोडेही समयमें अभीष्ट फलका देनेवाला हो उस मन्त्रकी बडाई है ५५

सहायाःसाधनोपाया विभागो देशकालयोः ।
विपत्तेश्च प्रतीकारो मन्त्रः पञ्चाङ्ग उच्यते ॥ ५६ ॥

सहाय साधनके उपाय, देशकालका विभाग, विपत्तिका प्रतीकार इस प्रकार मंत्रके पञ्चाङ्ग हैं ॥ ५६ ॥

अनुतिष्ठेत्समारब्धमनारब्धं प्रयोजयेत् ।
अनुष्ठितञ्च सद्वृत्त्या विशेषेणोपपादयेत् ॥ ५७ ॥

आरम्भ कियेका अनुष्ठान, और अनारम्भका प्रयोग करे, जो सद्भावसे आरम्भ किया गया है, वह विशेषकर उत्पन्न होता है ॥ ५७ ॥

प्रचारयेन्मन्त्रविदः कार्यद्वारेष्वनेकधा ।
तत्र यच्चेतसां साम्यं तेन शीघ्रं समुत्पतेत् ॥ ५८ ॥

मन्त्रका जाननेवाला कार्यालयोंका अनेक भाँतिसे प्रचार करै, जिससे शीघ्रही दूसरोंके चित्तमें शान्तिका प्रचारहो ॥ ५८ ॥

यत्र मन्त्रिमनःसाम्यं यत्र चेतो न शङ्कते ।
यच्च सन्तो न निन्दन्ति तत्परीयाच्चिकीर्षितम् ॥ ५९ ॥

जहां मित्रके मनमें शान्ति है, जहां चित्तमें शंका नहीं है, जिसकी सन्तजन निन्दा नहीं करते हैं उस इच्छितकर्मको करै ॥ ५९ ॥

धृतेऽपि मन्त्रे मन्त्रज्ञैः स्वयम्भूयो विचारयेत् ।
तथा वर्त्तेत तत्त्वज्ञो यथा स्वार्थन्न पीडयेत् ॥ ६० ॥

मन्त्रके ज्ञाताओंने जो निश्चय कियाहो उसको फिरभी विचारै तत्त्वका जाननेवाला इसप्रकारसे वैंत जिसमें स्वार्थमें हानि न पडै ॥ ६० ॥

मन्त्रिणः स्वार्थतात्पर्याद्दीर्घमिच्छन्ति विग्रहम् ।
मन्त्रिणां भोग्यतामेति दीर्घकार्याकुलो नृपः ॥ ६१ ॥

मन्त्री स्वार्थके तात्पर्यसे दीर्घ कालतक विग्रहकी इच्छा करते हैं, और निरन्तर कार्यमें आकुलहुआ राजा मन्त्रियोंकेही भोगको प्राप्त होता है ६१

मनःप्रसादः श्रद्धा च तथा करणपाटवम् ।
सत्वायोत्थानसम्पच्च कर्म्मणां सिद्धिलक्षणम् ॥ ६२ ॥

मनमें प्रसन्नता, श्रद्धा, साधनमें चतुराई, सत्व, पराक्रमकी अधिकाई, सम्पत्तिका आगमन, यह कर्म सिद्धिके लक्षण हैं ॥ ६२ ॥

लघूत्थानान्यविघ्नानि सम्भवत्साधनानि च ।
कथयन्ति पुरः सिद्धिं कारणान्येव कर्म्मणाम् ॥ ६३ ॥

जिसमें लघु उत्थान आरम्भसे विघ्न न हो, थोडे साधनोंमें सिद्ध हो उन कारणोंसे कर्मकी होनेवाली सिद्धि कहीहै ॥ ६३ ॥

नावर्त्तयेन्मुहुर्मन्त्रं संरक्षेत्तत्परिस्तुवन् ।
अरक्षमाणं मन्त्रं हि भिनत्त्यात्मपरम्पराम् ॥ ६४ ॥

वारंवार मन्त्रका उच्चारण न करे उसकी पलट पलट न करताहुआ बड़ाई करे कारण कि, अरक्षितहुआमन्त्र अपनी परम्पराको नष्टकरदेताहै ॥ ६४ ॥

मदः प्रमादः कामश्च सुप्तप्रलपितानि च ।
भिन्दन्ति मन्त्रंप्रच्छन्नाःकामिन्यश्चमतास्तथा ॥ ६५ ॥

मद प्रमाद (असावधानी) काम, अधिक सोना, प्रलाप, यह मन्त्रको भेद कर देते हैं, तथा स्त्रियोंकी सम्मतिसेभी मन्त्रभेद होजाता है ॥ ६५ ॥

निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भेद्येऽन्तरसंश्रये ।
प्रासादोपर्यरण्ये वा मन्त्रयेताविभावितः ॥ ६६ ॥

जिस स्थानमें स्तम्भोंकी आड न हो, झरोखे न हों, कोई आ न सकता

हो, दुर्भेद्यहो, अन्तरमें कोई वस्तु न हो, ऐसे स्थानमें महलके ऊपर वा निर्जन वनमें व्याकुलता रहित चित्तसे मन्त्र सम्मति करै ॥ ६६ ॥

द्वादशेति मनुः प्राह षोडशेति बृहस्पतिः।
उशना विंशतिरिति मन्त्रिणां मन्त्रमण्डलम् ॥ ६७ ॥

मनुजीने बारह मन्त्रियोंका,बृहस्पतिने छःका और शुक्रने वीसमन्त्रियों-का, मन्त्रिमण्डल कहाहै ॥ ६७ ॥

यथासम्भवमित्यन्ये तत्प्रविश्य यथाविधि।
मन्त्रयेताहितमनाः कार्यसिद्धिविवृद्धये ॥ ६८ ॥

दूसरोंका मत है इनमें जितने मन्त्री प्राप्त होजायँ उतने करै उनके साथ यथाविधि प्रवेश करके कार्यकी सिद्धि और वृद्धिके लिये सावधान मनसे विचार करै ॥ ६८ ॥

अकथ्यानि तु कार्याणि सम्प्रधार्य पुनः पुनः।
प्रविशेत्स्वहितान्वेषी मतमेषां पृथक् पृथक् ॥ ६९ ॥

नहीं कथन किये कार्योंको प्रथम वारंवार सोचकर हितकी इच्छावाला इन मंत्रियोंके मतको पृथक् २ जानकर उसका निश्चयकरै ॥ ६९ ॥

महापक्षो यथाशास्त्रं दृष्टकर्म्मा हितः सुधीः।
यद्ब्रूयाच्च मतारूढस्तत्तत्साधु समाचरेत् ॥ ७० ॥

जिस कार्यमें बहुतोंकी सम्माति हो जो शास्त्रानुसारहै जो कर्म देखा-हुआ हो हितकारी हो जिसको शास्त्रज्ञाताओंने कहा हो बुद्धिमान् उसको जान-कर भलीप्रकार उसका अनुष्ठानकरै ॥ ७० ॥

नातीयात्कार्यकालं हि कृत्वा मन्त्रविनिश्चयम्।
अतिक्रान्तं तु तं भूयो यथायोगं प्रकल्पयेत् ॥ ७१ ॥

मंत्रका निश्चयकर फिर उसके समयको बुद्धिमान् व्यतीत न करै, और जो उसका समय बीतजाय तो उसके विषयमें फिर सम्मति करै ॥ ७१ ॥

न कार्यकालं मतिमानतिक्रामेत्कदाचन ।
कथञ्चिदेव भवति कार्ये योगः सुदुर्लभः ॥ ७२ ॥

बुद्धिमान्को उचितहै कि, कार्यका समय किसी प्रकारभी न बितावे, कारण कि, कार्यमें लगना बड़ादुर्लभ होताहै, फिर बार २ वैसा संयोग नहीं होता ॥ ७२ ॥

सतां मार्गेण मतिमान् काले कर्म्म समाचरेत् ।
काले समाचरन्साधु रसवत्फलमश्नुते ॥ ७३ ॥

बुद्धिमान् सत्पुरुषोंके मार्गमें स्थितहुआ समय आनेपर अवश्य कर्म आरम्भ करै, समयपर भलीप्रकार कर्मकरता हुआ रसयुक्त फलको प्राप्त होताहै ॥ ७३ ॥

इति चेति च सम्पश्यन् कालदेशसहायवान् ।
विशुद्धपार्ष्णिः सद्वस्तु समाक्रामेन्नचापलात् ॥ ७४ ॥

इसप्रकारसे देशकालयुक्त सहायको देखताहुआ, शुद्ध दोनों भागहैं जिसके सो राजा चपलता न करताहुआ सद्वस्तुपर आक्रमण करै ॥ ७४ ॥

अहिते हितबुद्धिरल्पधीरवमन्येत मतानि मन्त्रिणाम् ।
चपलःसहसैव सम्पतेन्नचिरं वै व्यसनी प्रबुध्यते ॥ ७५ ॥

जो आहितमें हितबुद्धि करता है, थोडी बुद्धिवालाहै मंत्रियोंके मतको तिरस्कार करताहै, व्यसनोंसे व्याप्तहै, वह चपलपुरुष एकसाथही गिरताहै, और फिर शीघ्र नहीं जागता अर्थात् उन्नतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ७५ ॥

इति मन्त्रबलान्महीपतिर्महतो दुष्टभुजङ्गमानिव ।
विनयेन्नयमार्गमास्थितो वशमुद्योगसमन्वितो रिपून् ७६

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे मन्त्रविकल्पो
नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इसप्रकारसे राजा अपने मंत्रके बलसे बडे शत्रुओंकोभी दुष्ट सर्पके समान वशमें करनेके उद्योगमें लगाहुआ तथा स्वयं नीतिके मार्गमें लगाहुआ शिक्षा करै ॥ ७६ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां मंत्रविकल्पो नामैकादशः सर्गः ॥ १० ॥

द्वादशः सर्गः १२.

कृतमन्त्रस्तु मन्त्रज्ञो मन्त्रिणां मन्त्रसम्मतम् ।
यातव्याय प्रहिणुयाद्दूतं दूत्याभिमानिनम् ॥ १ ॥

जब मंत्रका ज्ञाता मंत्रियोंके मंत्रको भलीभाँति जानले तब दूतकार्यमें कुशल दूतोंके भेजनेकी इच्छा करै ॥ १ ॥

प्रगल्भः स्मृतिमान्वाग्मी शास्त्रे चास्त्रे च निष्ठितः ।
अभ्यस्तकर्म्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥ २ ॥

दूत वाचाल, बातका याद रखनेवाला, विशेषवक्ता, अस्त्र शस्त्रमें पंडित, कार्यका अभ्यास किये हुएही राजाका दूत होसकताहै ॥ २ ॥

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनवाहकः ।
सामर्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥ ३ ॥

स्वाभाविक दूतकर्ममें प्रवृत्तिवाला, प्रयोजनमात्र अर्थका वक्ता, राजाकी आज्ञाका ले जानेवाला, तथा किसीएक दूतकर्मके लक्षणसे हीन यह तीन प्रकारके दूत होतेहैं ॥ ३ ॥

स भर्तुः शासनाद्गच्छेद्गन्तव्यमुत्तरोत्तरम् ।
स्वराष्ट्रपरराष्ट्राणामिति चेति च चिन्तयन् ॥ ४ ॥

वह दूत अपने स्वामीकी आज्ञासे उत्तरोत्तर, स्थानोंमें गमनकरै, अपने तथा दूसरेके राज्यका विचारस भेदले ॥ ४ ॥

अन्तःपालांस्तु कुर्वीत मित्राण्याटविकांस्तथा ।
जलस्थलानि मार्गांश्च विद्यात्स्वबलसिद्धये ॥ ५ ॥

मित्र तथा जंगलके रहनेवालोंको अपने अन्तःपुरका रक्षक नियत करै, अपनी सेनाकी सिद्धिके लिये जल और स्थलके मार्गोंको जानै ॥ ५ ॥

नाविज्ञातः पुरं शत्रोः प्रविशेच्च न संसदि ।
कालमीक्षेत कार्यार्थमनुज्ञातश्च निष्पतेत् ॥ ६ ॥

विनाजानेहुए शत्रुके पुर वा सभामें प्रवेश न करै कार्यकी इच्छावाला समयको परखै, काल देखकर आक्रमण करै ॥ ६ ॥

सारवत्ताञ्च राष्ट्रस्य दुर्गन्तद्गुप्तिमेव च ।
छिद्रं शत्रोर्विजानीयात्कोषमित्रबलानि च ॥ ७ ॥

राज्यकी सारवत्ता किला और उस किलेकी रक्षा, कोष, मित्र, बल और शत्रुका छिद्र यह सब जानै ॥ ७ ॥

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं शासनं वदेत् ।
रागापरागौ जानीयात्प्रकृतीनाञ्च भर्त्तरि ॥ ८ ॥

शत्रुओंके उद्यत होनेपरभी यथोक्त अपने शासनको कहना चाहिये और प्रजाकी स्वामीपर प्रीति और विराग जानै ॥ ८ ॥

कृत्यपक्षस्य चोपायं कुर्यादनतिलक्षितः ।
पृच्छमानोऽपि न ब्रूयात्स्वस्वामिप्रकृतिच्युतिम् ॥ ९ ॥

जिसपक्षका उपायकरनाहो विनाजाने उसको करै, और अपने स्वामीकी प्रजाकी हीनताको पूँछा हुआभी नकहै ॥ ९ ॥

ब्रूयात्प्रसृतया वाचा सर्वं वेद भवानिति ॥ १० ॥

और कोमलवाणीसे कहै कि, आप सब जानतेहैं ॥ १० ॥

फलेन नाम्ना द्रव्येण कर्मणा च महीयसा ।

कुर्यांच्चतुर्विधं स्तोत्रं पक्षयोरुभयोरपि ॥ ११ ॥

फल नाम द्रव्य और बडेकर्म इन चारबातोंसे दोनों पक्षोंका चारप्रकार-का स्तोत्र (प्रशंसायुक्त प्रबन्ध) करै ॥ ११ ॥

विद्याशिल्पोपदेशेन संश्लिष्योभयवेतनैः ।

कृत्यपक्षश्च जानीयात्तद्भर्त्तुश्च विचेष्टितम् ॥ १२ ॥

विद्या और शिल्पके उपदेशसे दोनोंओर वेतनसे संयुक्त हुआ, कर्तव्य-पक्ष और उस स्वामीकी चेष्टाको जानै ॥ १२ ॥

तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।

तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत् ॥ १३ ॥

तीर्थ,आश्रम, आश्रयस्थानमें शास्त्रविज्ञानके हेतुसे तपस्वियोंके समान वेष किये अपने दूतोंके साथ निवास करै ॥ १३ ॥

सन्तापं कुलमैश्वर्यं त्यागमुत्थानसौष्ठवम् ।

अक्षुद्रतां भद्रताञ्च भर्त्तुर्भेद्येषु दर्शयेत् ॥ १४ ॥

सन्ताप, कुल, ऐश्वर्य, त्याग, उन्नतिकी श्रेष्ठता, अक्षुद्रता और श्रेष्ठता स्वामीके शत्रुओंमें दिखावै ॥ १४ ॥

सहेतानिष्टवचनं कामक्रोधश्च वर्जयेत् ।

नान्यैः शयीत भावं स्वं रक्षेद्विद्यात्परस्य च ॥ १५ ॥

उसके अनिष्ट वचनभी सहै, काम और क्रोधको वर्जितकरै, दूसरोंके साथ न सोवै, अपने भावकी रक्षा करताहुआ दूसरेका भाव जानै ॥१५॥

काले व्रजति मेधावी न खिद्येतात्मसिद्धये ।

क्षिप्यमाणश्च बुध्येत कालं नानार्थलोभनैः ॥ १६ ॥

समयपर बुद्धिमान् गमन करै आत्मसिद्धिके लिये खेद न करै और अनेक प्रकारके लुभानेसे व्यतीत होतेहुए समयको जानै ॥ १६ ॥

एतेष्वहःसु गच्छत्सु न तत्र पृथिवीपतेः ।
पश्यति व्यसनं किञ्चित्स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ १७ ॥

इन दिनोंके जानेसे कोई राजाका विकार न देखसकै न जो स्वयं करनेकी इच्छा हो उसको कोई जानै ॥ १७ ॥

स्वान्तप्रकोपमथवा विनेतुं नीतिवित्तमः ।
सस्यादेः संग्रहं कर्तुं स्वदुर्गे दुर्गसत्क्रियाम् ॥ १८ ॥

नीतिका जाननेवाला अपने भीतरी क्रोधको दूर करताहुआ सस्य धान्यके संग्रह करनेको अपने दुर्ग किलेका संस्कार करै ॥ १८ ॥

स्वपक्षाभ्युदयाकाङ्क्षी देशकालावुदीक्षते ।
तत्र यात्री स्वयं चित्तमाश्वास्यैव समीहते ॥ १९ ॥

अपने पक्षके उदयकी इच्छावाला देशकालमें उदयको देखताहै, वह यात्राकी इच्छावाला स्वयं अपने चित्तको आश्वासन करके चेष्टा करताहै १९॥

यात्राकालक्षयार्थी वा तत्र चायं विलम्बते ।
काले विक्षिप्यमाणे तु तर्कयेदिति पण्डितः ॥ २० ॥

और यात्राके समयका क्षयकारक उसमें विलम्ब करताहै, कालके व्यतीत होनेपर चतुरको विचारना चाहिये, देर होनेका क्या कारणहै ॥२०॥

कार्यकालविपत्तिश्च व्यक्तां ज्ञात्वा विनिष्पतेत् ।
तिष्ठन्वार्त्ताविशेषार्थान्भर्तुः सर्वान्निवेदयेत् ॥ २१ ॥

कार्य और कालकी विपत्तिको स्पष्ट जानकर आक्रमण करै और सब बात जाननेवाले स्थितरहैं, पीछे अपने स्वामीसे सब निवेदन करै ॥ २१ ॥

रिपोः शत्रुपरिच्छेदः सुहृद्बन्धुविभेदनम् ।
दुर्गकोषबलज्ञानं कृत्यपक्षोपसंग्रहः ॥ २२ ॥

शत्रुको, शत्रुके विनाशको जानै उसके सुहृद्बंधुओंका भेद, दुर्ग, को

और बलका ज्ञान, अपने कार्य कर्तव्यके करनेवालोंका संग्रह ॥ २२ ॥

राष्ट्राव्यपेतपालानामात्मसात्करणं तथा ।
युद्धापसारभूज्ञानं दूतकर्मेति कथ्यते ॥ २३ ॥

राजाके पालकोंको अपने अधीन करना, युद्ध और पलायनकी भूमिका ज्ञान यह सब दूतके कर्म हैं ॥ २३ ॥

दूतेनैव नरेन्द्रस्तु कुर्वीतारिविकर्षणम् ।
स्वपक्षे च विजानीयात्परदूतविचेष्टितम् ॥ २४ ॥

दूतकेही द्वारा राजा शत्रुका आकर्षण करै और अपने पक्षमें शत्रुके दूतकी चेष्टा जानै ॥ २४ ॥

तर्केङ्गितज्ञः स्मृतिमान्भृदुर्लघुपरिक्रमः ।
क्लेशायाससहो दक्षश्चरः स्यात्प्रतिपत्तिमान् ॥ २५ ॥

तर्क और चेष्टाका जाननेवाला, स्मृतिवाला, शीघ्रपराक्रमी, क्लेश और परिश्रमका सहनेवाला, चतुरता, काल बुद्धि उपार्जन करनेवाला दूत होना चाहिये ॥ २५ ॥

तपस्विलिङ्गिनो धूर्त्ताः पण्यशिल्पोपजीविकाः ।
चराश्चरेयुः परितः पिबन्तो जगतां मतम् ॥ २६ ॥

तपस्वियोंका वेश धारण कियेहुए धूर्त व्यापार और शिल्पसे आजीविकावाले दूत सबओर जगत्का समाचार लेते हुए विचरण करैं ॥ २६ ॥

निर्गच्छेयुर्विशेयुश्च सर्ववार्त्ताविदोऽन्वहम् ।
चराः सकाशान्नृपतेश्चक्षुर्दूरतरं हि ते ॥ २७ ॥

सब वार्ताके जाननेवाले दूत प्रतिदिन राजभवनमें आवैं जावैं, कारण कि, दूत राजाकी दूरकी आंखें हैं ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं सूत्रप्रचारेण पश्येद्वै विधिचेष्टितम् ।

स्वपन्नपि च जागर्त्ति चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २८ ॥

अति सूक्ष्मसूत्रके प्रचारवाले छिद्रसेभी सब विधान और चेष्टा जानै, दूतरूप नेत्रोंवाला राजा सोताहुआ भी जागता है ॥ २८ ॥

विवस्वानिव तेजोभिर्नभस्वानिव चेष्टितैः ।
राजा चरैर्जगत्कृत्स्नं व्याप्नुयाल्लोकसम्मतैः ॥ २९ ॥

तेजोंसे सूर्यके समान, चेष्टाओंसे पवनकी समान, राजा लोकसम्मत दूतोंसे सब जगत्को व्याप्त करले ॥ २९ ॥

चारचक्षुर्नरेन्द्रः स्यात्सम्पतेत्तेन भूयसा ।
अनेनासम्पतन्मौढ्यात्पतत्यन्धःसमेऽपि हि ॥ ३० ॥

जो राजा दूतरूप आँखोंवाला होता है, उसपर बड़ा सम्पात होनेसे वशता होती है जो मूर्खतासे इसपर चढाई करताहै, वह समता होनेपरभी अन्धेकी समान गिरता है ॥ ३० ॥

सर्वसम्पत्समुदयं सर्वावस्थाविचेष्टितम् ।
चरेण द्विषतां विद्यात्तद्देशप्रार्थनानि च ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण सम्पत्तिसे उदित सम्पूर्ण अवस्थामें चेष्टावाला दूतके द्वाराही शत्रुके देशकी प्रार्थनाको जानै ॥ ३१ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च चरस्तु द्विविधः स्मृतः ।
अप्रकाशोऽयमुद्दिष्टः प्रकाशो दूत उच्यते ॥ ३२ ॥

एक गुप्त एक प्रगट दो प्रकारके दूत होतेहैं अप्रकाशका वर्णन करचुके, अब प्रकाशका वर्णन करते हैं ॥ ३२ ॥

चरेण प्रचरेद्राजा सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे ।
दूते सन्धानमायाते चरचर्या प्रतिष्ठिता ॥ ३३ ॥

राजा दूतके सत्यकथनानुसार विचरण करै वा कार्य करै, जैसे ऋत्विक्

सूत्रअनुसार यज्ञका कार्य करता है, दूतकेही सन्निधि होनेसे दूतकी क्रिया प्रतिष्ठित होती है ॥ ३३ ॥

तीक्ष्णः प्रव्रजितश्चैव सत्री विषद एव च ।
एते ज्ञेयास्तु सञ्चाराः सर्वे नान्योन्यवेदिनः ॥ ३४ ॥

तीक्ष्णप्रकृति संन्यासी यज्ञकर्ता विषदेनेवाला यह संचरण करनेवाले हैं, इनको परस्पर कोई नहीं जानसकता ॥ ३४ ॥

संस्थानवत्यः संस्थाश्च कार्याः कार्यप्रसिद्धये ।
तिष्ठेयुः पार्श्वसञ्चाराः परिचर्यापवादिनः ॥ ३५ ॥

कार्य अकार्यकी सिद्धिके लिये स्थितिकी मर्यादा करनी चाहिये और सेवाके बहानेसे वे राजाके समीप भी स्थिति करैं ॥ ३५ ॥

बालः कृषीवलो लिङ्गी भिक्षुकोऽध्यापकस्तथा ।
संस्थाः स्युश्चारसंस्थित्यै दत्तदायाःशुभाशयाः॥ ३६ ॥

बालक, किसान, वनचारी, भिक्षुक, अध्यापक, यह दूतोंके वेशकी मर्यादाहै, इन कार्योंको करतेहुए शुभ आशयवाले वृत्तिका भोग करैं॥ ३६॥

स्वपक्षे परपक्षे च यावान्कश्चिद्व्यवस्थितः ।
सर्वस्मिंस्तत्र सञ्चारास्तिष्ठेयुश्चित्तवेदिनः ॥ ३७ ॥

अपने पक्ष और परपक्षमें जो कोई जिसप्रकार स्थित है, चित्तके जाननेवाले दूत सब प्रकारसे उसमें स्थित हो ॥ ३७ ॥

स्वपक्षे परपक्षे च यो न वेद चिकीर्षितम् ।
जाग्रन्नपि सुषुप्तोऽसौ न भूयः प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३८ ॥

जो अपने और दूसरेके पक्षकी करनेकी इच्छाको नहीं जानता वह राजा जागता हुआभी सोता है, और फिर नहीं जागता है ॥ ३८ ॥

कारणाकारणक्रुद्धान्बुध्येत स्वपरिग्रहे ।

पापानकारणक्रुद्धांस्तूष्णीं दण्डेन साधयेत् ॥ ३९ ॥

अपने कुटुम्बियोंके कारण और अकारणसे उत्पन्नहुए क्रोधको जानै, जो विनाकारणसेही उत्पन्नहुए पापी हैं उनको दण्डसे चुपकेही साधनकरै ॥ ३९॥

ये तु कारणतः क्रुद्धास्तान्वशीकृत्य संवसेत् ।
शमयेद्दानमानाभ्यां छिद्रश्च परिपूरयेत् ॥ ४० ॥

और जो कारणवश क्रोधित हुए हैं, उनको उपायसे वश कर उनके साथ स्थिति करै, दान मानसे उनका क्रोध शान्तकर छिद्रको पूर्ण करै ॥ ४० ॥

अणुनापि प्रविश्यारिं छिद्रेण बलवत्तरम् ।
निःशेषं मज्जयेद्राष्ट्रं पानपात्रमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

बलवान् शत्रुके थोडेसे छिद्रमेंभी प्रवेशकर सब राज्यको नष्ट करसकताहै, जैसे पानपात्रमें थोडा २ जल भरकर उसको डुबा देताहै ॥ ४१॥

जडमूकान्धबधिरछद्मानः पण्डकास्तथा ।
किराता वामनाःकुब्जास्तद्विधा ये च कारकाः ॥ ४२॥

जड, मूक, अन्धे, बहरे, षण्ढ, किरात, बौने, कुबड़े तथा और जो इसप्रकारके कार्य करनेवालेहैं ॥ ४२ ॥

भिक्षुकाश्चारणा दास्यो नानाकार्यकलाविदः ।
अन्तःपुरगतां वार्त्तामाहरेयुरलक्षिताः ॥ ४३ ॥

भिक्षुक, चारण, दास,अनेक कार्य और कलाके जाननेवाले, अन्तःपुरकी बातें विना किसीके जाने सुन आवैं ॥ ४३ ॥

छत्रव्यजनभृङ्गारयानवाहनधारिणः ।
महामात्रबहिर्वार्त्तां विदुरन्ये च तद्विधाः ॥ ४४ ॥

छत्र, चंमर, झारी, यान, वाहन (सवारी) के धारणकरनेवाले महामात्र यह सब बाहरके समाचारोंको जानै, तथा इसी प्रकारसे दूसरोंके भी ॥ ४४ ॥

सद्व्यञ्जनकर्त्तारस्तल्पकाव्ययकास्तथा ।
प्रसाधका भोजकाश्च गात्रसंवाहका अपि ॥ ४५ ॥

अच्छी रसोई करनेवाले, शय्या करनेमें चतुर, थोडा व्यय करनेवाले, शृंगार करनेवाले, भोजन करानेवाले, शरीर दाबनेवाले ॥ ४५ ॥

जलताम्बूलकुसुमगन्धभूषणदायकाः ।
कर्त्तव्याश्च सदा ह्येते ये चान्येऽभ्यासवर्तिनः ॥४६॥

जल, ताम्बूल, फूल, गंध और भूषणोंके देनेवाले, तथा जो इस कार्यका अभ्यास किये हों उनमें यह ऊपर कहे हुएही नियत करने चाहिये ॥४६॥

संज्ञाभिर्मूर्च्छितैर्लेख्यैराकारैरिङ्गितैरपि ।
सुसञ्चरेयुरव्यग्राश्चराश्चर्या परस्परम् ॥ ४७ ॥

संज्ञासे जाने हुए, मूर्च्छित, लेख, आकार भीतरी, चेष्टा द्वारा चरलोग स्थिर चित्तसे परस्पर दौत्यकार्य करतेहुए विचरण करैं ॥ ४७ ॥

समापिबन्तो जगता मतानि जलानि भूमेरिव सूर्यपादाः ।
अनेकशिल्पाध्ययनप्रवीणाश्चराश्चरेयुर्बहुलिङ्गिरूपाः ४८॥

सम्पूर्ण जगत्की इच्छाको जानते हुए जैसे सूर्यकी किरणें जलोंको ग्रहण करती हैं, इसप्रकार सबकी व्यवस्था ग्रहण करतेहुए अनेक शिल्पविद्या और अध्यापनविद्यामें चतुर दूतगण अनेकप्रकारके रूप धारणकिये विचरण करैं ॥ ४८ ॥

येन प्रकारेण परानुपेयात्परापरज्ञश्च समृद्धिहेतोः ।
तमात्मनिस्वस्थमतिस्तुतज्ज्ञैर्वियुज्यमानंहिपरेणविद्यात् ४९

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे दूतप्रचारश्चरविकल्पो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

पर और अपरका जाननेवाला समृद्धिकी इच्छा करताहुआ जिसप्रकार

शत्रुको आक्रमण करसकै उस विधानके जाननेवालोंसे स्थितमतिवाला राजा उस विधानको जानकर शत्रुको अधिकारियोंसे वियोगित जान अपने आधीन करनेकी चेष्टा करै वा विजयके कारणोंको शत्रुसे वियुक्तकर उसको जीतै ॥ ४९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां दूतप्रचारश्चरविकल्पो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः १३.

अन्वहश्चरचर्याभिर्विमलं दूतचेष्टितम् ।
यायाद्यथोक्तलाभस्तु सूक्ष्मबुद्धिपुरःसरः ॥ १ ॥

राजा प्रतिदिन दूतके सत्यवचन श्रवण कर सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करता हुआ यथोक्त लाभको प्राप्तहो ॥ १ ॥

सूक्ष्मा सत्त्वप्रयत्नाभ्यां दृढा बुद्धिरधिष्ठिता ।
प्रसूते हि फलं श्रीमदरणीव हुताशनम् ॥ २ ॥

जो बुद्धिसूक्ष्म सत्व गुणसे प्रतिष्ठित होनेसे दृढ होगई है वह लक्ष्मी रूप फलको उत्पन्न करतीहै, जिसप्रकारसे अरणीकाष्ठ अग्निको प्रगट करता है ॥ २ ॥

धातोश्चामीकरमिव सर्पिर्निर्मथनादिव ।
बुद्धिप्रयत्नोपगताध्यवसायाद्ध्रुवं फलम् ॥ ३ ॥

जैसे अनेक धातुओंमें मिलाहुआ सुवर्ण गलानेसे प्रगट होताहै वा जैसे दहीके मथनेसे घृत प्रगट होताहै उससे बुद्धि और उद्योगसे अवश्य फलकी प्राप्ति होतीहै ॥ ३ ॥

धीमानुत्साहसम्पन्नः प्रभुशक्त्या समन्वितः ।
श्रियः स्यात्परमं पात्रमपामिव महार्णवः ॥ ४ ॥

बुद्धिमान् उत्साहसे सम्पन्न प्रभुशक्तिसे युक्त राजा लक्ष्मी पानेका परम पात्र होताहै, जैसे सागर जलोंका महापात्रहै ॥ ४ ॥

नलिनीवाम्बुसम्पत्या बुद्ध्या श्रीः परिपाल्यते ।
उत्थानव्यवसायाभ्यां विस्तारमुपनीयते ॥ ५ ॥

जैसे जलकी सम्पत्तिसे कमलिनी पालित होतीहै, इसीप्रकार बुद्धिसे लक्ष्मीकी पालना होती है उद्योग और व्यापारसे इसका विस्तार होताहै५॥

लक्ष्मीरुत्साहसम्पन्नान्बुद्धिशुद्धं प्रसर्पतः ।
नापैति कायाच्छायेव विस्तारं चोपगच्छति ॥ ६ ॥

उत्साहसम्पन्न और बुद्धिसे निर्मल कर्म करनेवाले पुरुषोंको लक्ष्मी नहीं त्यागन करती, किन्तु विस्तारको प्राप्त होती है जैसे छाया शरीरको कभी नहीं छोडती ॥ ६ ॥

वीतव्यसनमश्रान्तं महोत्साहं महामतिम् ।
प्रविशन्ति सदा लक्ष्म्यः सरित्पतिमिवापगाः ॥ ७ ॥

व्यसनोंसे रहित श्रमरहित महा उत्साह और महामतिवाले राजामें सदा लक्ष्मी प्रवेश करती है, जैसे नदी समुद्रमें ॥ ७ ॥

सत्वबुद्ध्युपपन्नोऽपि व्यसनग्रस्तमानसः ।
स्त्रीभिः षण्ड इव श्रीभिरलसः परिभूयते ॥ ८ ॥

सत्वबुद्धिसे सम्पन्न हुआ भी यदि मन व्यसनोंसे ग्रस्त होजाय, तौ वह आलसी होकर लक्ष्मीसे तिरस्कार किया जाता है, जिस प्रकार, नपुं, सका स्त्रियोंसे तिरस्कार किया जाता है ॥ ८ ॥

उत्थानेनैधयेत्सर्वमिन्धनेनेव पावकम् ।
श्रियं हि सततोत्थायी दुर्बलोऽपि समश्नुते ॥ ९ ॥

उद्योग करनेसे सबकी वृद्धि करै जिसप्रकार ईंधन डालनेसे अग्नि बढती है, दुर्बल पुरुष भी सदा उद्योगी होनेसे लक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भोक्तुं पुरुषकारेण दुष्टस्त्रियमिव श्रियम् ।
व्यवसायं सदैवेच्छेन्न हि क्लीबवदाचरेत् ॥ १० ॥

दुष्ट स्त्रीकी समान लक्ष्मीको पुरुषकारसे भोगनेके लिये सदा व्यवसायकी इच्छा करै नपुंसकता न करै ॥ १० ॥

वशे श्रियं सदोत्साही सैंहीं वृत्तिमुपाश्रितः ।
कचग्रहेण कुर्वीत दुर्विनीतामिव स्त्रियम् ॥ ११ ॥

सदा उत्साहवाला सिंहकी वृत्तिका आश्रय लियेहुए लक्ष्मीको अपने वशमें करै जिसप्रकारसे वाल पकडकर दुर्विनीत स्त्रीको अपने वशमें किया जाता है ॥ ११ ॥

किरीटमणिचित्रेषु मुर्द्धसु त्राणसारिषु ।
नाकृत्वा विद्विषां पादं पुरुषो भद्रमश्नुते ॥ १२ ॥

यह पुरुष मणियोंसे चित्रित किरीटवाले झिलमटोपधारी शत्रुओंके मस्तकपर चरणदिये विना कल्याणको नहीं प्राप्त होसकता ॥ १२ ॥

प्रयत्नप्रेर्यमाणेन महता चित्तहस्तिना ।
रूढवैरिद्रुमोत्खातमकृत्वैव कुतः सुखम् ॥ १३ ॥

चित्तरूपी हाथीको बडे प्रयत्नसे प्रेरित करकै वैरीरूपी वृक्षको जडसे उखाडदिये विना सुखकी प्राप्ति कहां होसकती है ॥ १३ ॥

हेलाकृष्टस्फुरत्कान्तिखड्गांशुपरिपिञ्जरैः ।
श्रीमत्करिकराकारैराकृष्यन्ते भुजैः श्रियः ॥ १४ ॥

ललासे इधर उधर चलायमान होकर स्फुरायमान कान्तिवाले खड्गकी अंशुओंके समूहवाले शोभायमान हाथीकी सूंडकी समान भुजावाले हाथोंसे लक्ष्मी खैंचलीजाती है ॥ १४ ॥

उच्चैरुच्चैस्तरामिच्छन्पदान्यायच्छते महान् ।

नीचैर्नीचैस्तरां याति निपातभयशङ्कया ॥ १५ ॥

ऊंचे २ की इच्छा करता हुआ महान् पदपर आरूढ होजाता है और गिरनेके भयकी शंकासे नीचे२ होताहुआ अधिकतर नीचाहोजाताहै॥ १५॥

प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्वमधिष्ठितः ।
पदं स धत्ते शिरसि करिणः केसरी यथा ॥ १६ ॥

प्रमाणसे अधिकभी महत्पदकी इच्छा करताहुआ यह पुरुष महापद पर आरूढ होजाता है, जिसप्रकार सिंह गजेन्द्रके मस्तकपर अधिष्ठित होजाता है ॥ १६ ॥

गतभीर्भीतिजननं भोगं भोगीव दर्शयेत् ।
यथाबलश्च कुर्वीत रिपोर्दण्डनिपातनम् ॥ १७ ॥

निर्भय पुरुषको भी भय देता सर्पके फणोंकी समान अपना आडम्बर दिखावे और बलके अनुसार शत्रुपर दण्ड निपातन करै ॥ १७ ॥

प्रकृतिव्यसनं यस्मात्तत्प्रशाम्य समुत्पतेत् ।
अनयापनयाभ्यांश्च जायते दैवतोऽपि वा ॥ १८ ॥

प्रकृतिके व्यसनको शान्त करकेही आक्रमण करै। प्रकृतिकी रुष्टता अनीति, अनादर और दैवके कोपसे होती है ॥ १८ ॥

यस्माद्धि व्यसति श्रेयस्तस्माद्व्यसनमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

जिसे कि, कल्याण दूर होजाताहै इसीकारण इसकानाम व्यसनहै व्यसनसेही यह पुरुष नीचे २ चलाजाताहै इसकारण व्यसनको त्यागनकरै१९॥

हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षो मरकस्तथा ।
इति पञ्चविधं दैवं व्यसनं मानुषं परम् ॥ २० ॥

अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और मृत्यु यह पाँच दैवहैं, यह मनुष्यको

पीडित करैं तो उसका क्या दोष ? परन्तु व्यसनसे पीडित होना मनुष्यका निज दोषहै ॥ २० ॥

दैवं पुरुषकारेण शान्त्या च प्रशमन्नयेत् ।
उत्थायित्वेन नीत्या च मानुषं कार्यतत्त्ववित् ॥ २१ ॥

दैवको पुरुषकार और शान्तिकर्मसे अपने अनुकूल करै, और कार्यका कर्ता मानुषी व्यसन उद्योग तथा उन्नतिकी इच्छा और नीतिसे त्यागकरै२१

स्वाम्यादि मित्रपर्य्यन्तं प्राकृतं मण्डलं हि तत् ।
तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि व्यसनञ्च यथाक्रमम् ॥ २२ ॥

जिसकारण कि, स्वामीसे लेकर मित्रपर्यन्त प्रकृतिमण्डल है उनके कर्म और व्यसनको यथाक्रमसे कहता हूं ॥ २२ ॥

मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः ॥
आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम् ॥ २३ ॥

मन्त्र मन्त्रके फलकी प्राप्ति कार्यका अनुष्ठान आगेके लिये फलकी आशा आमदनी खर्च दण्डनीति अमित्रका प्रतिषेध ॥ २३ ॥

व्यसनस्य प्रतीकारो राजराज्याभिषेचनम् ।
इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति स व्यसनान्वितः ॥ २४ ॥

व्यसनोंका प्रतीकार, राज, राज्याभिषेक यह अमात्यके सब कर्म हैं उसके व्यसनी होनेसे यह सब नष्ट होतेहैं ॥ २४ ॥

अमात्यैर्व्यसनोपेतैर्ह्रियमाणो महीपतिः ।
अमुक्त एवोत्पतति छिन्नपक्ष इवाण्डजः ॥ २५ ॥

व्यसनोंसे युक्त हुए मंत्रियोंद्वारा हरण होताहुआ राजा छिन्नपंखवाले पक्षीकी समान न छूटकर पतित होताहै ॥ २५ ॥

हिरण्यधान्यवस्त्राणि वाहनानि तथैव च ।

तथान्ये द्रव्यनिचयाः प्रजातः सम्भवन्ति हि ॥ २६ ॥

सुवर्ण, धान्य, वस्त्र और वाहन तथा औरभी सम्पूर्ण द्रव्य प्रजासेही प्राप्त होतेहैं ॥ २६ ॥

वार्त्ता प्रजा साधयति वार्त्ता वै लोकसंश्रयः।
प्रजायां व्यसनस्थायां न किञ्चिदपि सिध्यति॥ २७॥

वार्ताही प्रजाको साधती है वार्ताही लोकको आश्रित करती है, यदि प्रजा व्यसनी होजाय तौ फिर कुछभी सिद्ध नहीं होसकता ॥ २७ ॥

प्रजानामापदि स्थानं रक्षणं कोषदण्डयोः।
पौराश्चैवोपकुर्वन्ति संश्रयायेह दुर्गिणाम् ॥ २८ ॥

प्रजाओंकी आपदामें स्थिति रखनेके निमित्त ही कोषदण्डका रक्षण है और पुरवासियोंके उपकारके निमित्त दुर्गका आश्रय है ॥ २८ ॥

तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः।
सामन्ताटविकाबाधानिरोधो दुर्गमुच्यते ॥ २९ ॥

मौन होकर युद्ध करना, अपने जनोंकी रक्षा, मित्र, अमित्रका परिग्रहण, सामन्त और वनवासियोंकी बाधा निरोधके निमित्त दुर्गका विधान है ॥ २९ ॥

स्वपक्षैः परपक्षैश्च दुर्गस्थः पूज्यते नृपः।
एतद्धि दुर्गव्यसनात्सर्वमेव न विद्यते ॥ ३० ॥

दुर्गमें स्थितहुआ राजा अपने और पराये शत्रुके पक्षसे पूजित होता है और दुर्गके व्यसनसे इनमेंसे कोई बात भी नहीं होती ॥ ३० ॥

भृत्यानां भरणं दानं भूषणं वाहनक्रयः।
स्थैर्यं परोपजापश्च दुर्गसंस्कार एव च ॥ ३१ ॥

भृत्यजनोंका भरण, पोषण, वाहन, दान, भूषण, क्रयपदार्थ, स्थिरता, शत्रुको ताप यह सब दुर्गके संस्कारसेही होते हैं ॥ ३१ ॥

सेतुबन्धवणिक्कर्मप्रजामित्रपरिग्रहः ।
धर्मकामार्थसिद्धिश्च कोषादेतत्प्रवर्त्तते ॥ ३२ ॥

पुलका बाँधना, व्यापार कर्म प्रजामित्रोंका संग्रह, धर्म, काम और अर्थकी सिद्धि यह सब कोषसेंही प्रवृत्त होती हैं ॥ ३२ ॥

कोषमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः ।
एतत्सर्वं जहातीह कोषव्यसनवान्नृपः ॥ ३३ ॥

कोषका मूल ही राजा है यह सार्वलौकिक जनश्रुति है, कोषव्यसनको प्राप्तहुआ राजा यह सब त्यागन करदेता है ॥ ३३ ॥

क्षीणं बलं वर्द्धयति स्वतो गृह्णाति च प्रजाः ।
कोषवान्पृथिवीपालः परैरप्युपजीव्यते ॥ ३४ ॥

क्षीणहुए बलको वढाता, तथा प्रजाको स्वयं ग्रहण करता इसप्रकार कोषवाला राजा शत्रुओंको भी उपजीवी होता है अर्थात् शत्रुभी उसके आश्रित होजाते हैं ॥ ३४ ॥

मित्रामित्रहिरण्यानां भूमीनाञ्च प्रसारणम् ।
दूरकार्याशुकारित्वं लब्धस्य परिपालनम् ॥ ३५ ॥

शत्रु, मित्र, सुवर्ण और भूमियोंका प्रसार देरमें करना और शीघ्रतासे करना प्राप्तहुई वस्तुकी रक्षा करना ॥ ३५ ॥

परचक्राभिघातश्च स्वदण्डस्य परिग्रहः ।
दण्डादेतत्प्रभवति याति तद्व्यसने क्षयम् ॥ ३६ ॥

शत्रुचक्रका नाश और अपने दण्डका संग्रह यह सब कार्य दण्डसेही होते हैं और दण्डके व्यसनसे क्षय होजाते हैं ॥ ३६ ॥

अरयोऽपि हि मित्रत्वं यान्ति दण्डवतो ध्रुवम् ।
दण्डप्रायो हि नृपतिर्भुनक्त्याक्रम्य मेदिनीम् ॥ ३७ ॥

दण्ड ग्रहण करनेवालेके शत्रुभी मित्र होजाते हैं दण्ड ग्रहण करनेवाला राजा आक्रमण कर पृथ्वीको भोगता है ॥ ३७ ॥

संस्तम्भयति मित्राणि ह्यमित्रं नाशयत्यपि ।
भूकोषदण्डैर्व्रजति प्राणैश्चाप्युपकारिताम् ॥ ३८ ॥

मित्रोंको स्थित रखता और शत्रुओंको मारता है, पृथ्वी कोष और दण्डवालेका दूसरे लोग प्राण लगाकरभी उपकार करते हैं ॥ ३८ ॥

ततः करोति सुबहु मित्रं स्नेहनिबन्धनम् ।
तस्मिन् व्यसनमापन्ने मित्रकर्म न विद्यते ॥ ३९ ॥

और इसीसे मित्रभी बहुत स्नेह करते हैं और इनके व्यसनको प्राप्त होनेसे मित्रकर्म भलीप्रकारसे नहीं होते ॥ ३९ ॥

उपकाराद्दते ह्याशु मित्रं श्रेयसि तिष्ठति ।
मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानप्यनादरात् ॥ ४० ॥

उपकारके विनाभी मित्र कल्याण कार्यमें लगा रहता है, उस मित्रके बलवाला राजा दुःसाध्य कार्योंको भी दूसरोंका अनादर करके सिद्ध करसकता है ॥ ४० ॥

अन्वीक्षणञ्च विद्यानां स्ववर्णाश्रमरक्षणम् ।
ग्रहणं शुद्धशस्त्राणां युद्धमार्गेऽपि शिक्षणम् ॥ ४१ ॥

विद्याओंको देखकर अपने वर्ण और आश्रमकी रक्षा, शुद्धशस्त्रोंका ग्रहण, युद्धमार्गका शिक्षण ॥ ४१ ॥

व्यायामः शस्त्रविज्ञानं कर्म्मणां लक्षणानि च ।
गजाश्वरथपृष्ठेषु यथावत्सम्प्रवर्त्तनम् ॥ ४२ ॥

कसरत करना, शस्त्रका विज्ञान, कर्मोंके लक्षण, गज, अश्व, रथ इन पर यथावत् चढनेका ज्ञान होना ॥ ४२ ॥

नियुद्धकुशलं मायापरचित्तप्रवेशनम् ।

धूर्त्तता शाठ्ययुक्तेषु सत्सु सद्व्रतदर्शनम् ॥ ४३ ॥

युद्धमें कुशलता मायासे पराये चित्तमें प्रवेश करजाना शठोंके प्रति शठता, महात्माओंमें सुहृत् का अनुष्ठान ॥ ४३ ॥

मन्त्रोद्योगोऽनुमन्त्रत्वं तद्रक्षा स्वास्थ्यमेव च ।
उपेक्षा सामदानस्य भेदो दण्डस्य साधनम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रका उद्योग, उसकी फिर अनुमति लेना, उसकी रक्षा, स्वास्थ्य, उपेक्षा, साम दानका विचार, भेद दण्डका साधन ॥ ४४ ॥

प्रशास्त्रध्यक्षसेनानां मन्त्र्यमात्यपुरोधसाम् ।
सम्यक् प्रचारविज्ञानं दुष्टानाञ्चावरोधनम् ॥ ४५ ॥

अध्यक्ष और सेनाओंका शासन, मन्त्री, प्रधान, अमात्य और पुरोहितोंके प्रचार कर्मका भलीभाँति ज्ञान होना, दुष्टोंको दुष्टकर्मसे रोकना ४५॥

गतागतपरिज्ञानं दूतसम्प्रेषणानि च ।
प्रकृतिव्यसनापोहक्रुद्धप्रशमनानि च ॥ ४६ ॥

आये गयेका ज्ञान होना, दूतोंके भेजनेका विधान, प्रकृतियोंके व्यसन और क्रोधकी शान्ति ॥ ४६ ॥

गुरूणामनवृत्तिश्च पूज्यानाञ्चाभिपूजनम् ।
धर्मासनप्रतिष्ठानं राज्यकण्टकशोधनम् ॥ ४७ ॥

गुरुओंके अनुकूल वर्तना, पूज्यजनोंका पूजन करना, धर्मासनपर स्थिति, राज्यकण्टकोंका शोधन ॥ ४७ ॥

भूताभूतपरिज्ञानं कृताकृतपरीक्षणम् ।
तुष्टातुष्टविचारश्च सर्वेषामनुजीवनम् ॥ ४८ ॥
मध्योदासीनचरितज्ञानं तत्सिद्धिपालनम् ।
परिग्रहस्तु मित्राणाममित्राणाञ्च निग्रहः ॥ ४९ ॥

यह कार्य हुवा या नहीं, इसका ज्ञान किये न कियेकी परीक्षा, सन्तुष्ट और असन्तुष्टका विचार, सबके वृत्तिका यथायोग्य विचार, मध्य और उदासीन पुरुषोंके चरित्रका ज्ञान, उनके कार्यकी सिद्धि और पालना, अपने मित्रोंका संग्रह और शत्रुओंका निग्रह ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

पुत्रदारादिभिर्गुप्तिर्बन्धुवर्गपरिग्रहः ।
स्ववृद्धिपवनादीना स्ववृत्तीना प्रवर्त्तनम् ॥ ५० ॥

पुत्र, स्त्री आदिकी रक्षा, बंधुजनोंका ग्रहण, अपनी वृद्धि और अपनी पवित्र वृत्तियोंका वर्ताव ॥ ५० ॥

असताञ्च परिक्लेशः सताञ्च परिगूहनम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामधर्माणाञ्च वर्जनम् ॥ ५१ ॥

असत्पुरुषोंको क्लेशित करना, सत्पुरुषोंकी रक्षा करनी, किसी प्राणी-की हिंसा न करनी और अधर्मोंका त्याग भलीभाँति करना ॥ ५१ ॥

अकार्यप्रतिषेधश्च कार्याणाञ्च प्रवर्त्तनम् ।
प्रदानञ्च प्रदेयानामदेयानाञ्च संग्रहः ॥ ५२ ॥

अकार्य न करना, सुकार्यमें वर्तना, देने योग्य वस्तुका देना, अदेयवस्तु-की रक्षा करनी ॥ ५२ ॥

अदण्डनमदण्ड्यानां दण्ड्यानाञ्चापि दण्डनम् ।
अग्राह्याग्रहणञ्चैव ग्राह्याणां ग्रहणं तथा ॥ ५३ ॥

जो दण्डके योग्य नहीं हैं उनको दण्ड न देना और जो दण्डके योग्य हैं उनको दण्ड देना, जो अगृहीत नहीं हैं उनका ग्रहण न करना और जो ग्रहणके योग्यहैं उनका ग्रहण करना ॥ ५३ ॥

अर्थयुक्तस्य करणमनर्थस्य च वर्जनम् ।
न्यायतश्च करादानं स्वयं वा प्रतिमोक्षणम् ॥ ५४ ॥

अर्थयुक्त वस्तुका साधन और अनर्थका त्याग, न्यायपूर्वक करका ग्रहण और स्वयं वा उसको छोडभी देना ॥ ५४ ॥

संवर्द्धनं प्रधानानां निरस्यानाञ्च निर्हृतिः ।
वैषम्यानां प्रशमनं भृत्यानाञ्चाविरोधनम् ॥ ५५ ॥

प्रधानवस्तुओंका बढाना और निकालने योग्य वस्तुओंका निकालदेना विषमोंका शान्त करना, तथा भृत्यजनोंका विरोध न होने देना ॥ ५५ ॥

अविज्ञातस्य विज्ञानं विज्ञातस्य च निश्चयः ।
आरम्भः कर्म्मणां शश्वदारब्धस्यान्तदर्शनम् ॥५६॥

अविज्ञात वस्तुका ज्ञान और जानीहुई वस्तुका निश्चय, कर्मोंका भली-प्रकार आरंभ और आरम्भ किये कर्मकी पूर्ति करना ॥ ५६ ॥

अलब्धलिप्सा न्यायेन लब्धस्य परिवर्द्धनम् ।
परिवृद्धस्य विधिवत्पात्रे सम्प्रतिपादनम् ॥ ५७ ॥

नहीं प्राप्तहुई वस्तुकी न्यायपूर्वक लेनेकी इच्छा न करनी और लब्ध(प्राप्तहुई) वस्तुका बढाना,और बढाईहुई वस्तुका विधिपूर्वक पात्रमें दान करना५७॥

अधर्म्मप्रतिषेधश्च न्यायमार्गानुवर्त्तनम् ।
उपकार्योपकारित्वमिति वृत्तं महीपतेः ॥ ५८ ॥

अधर्मका प्रतिषेध और न्यायमार्गके अनुसार वर्ताव, उपकारीके साथ उपकार करना यह राजाके कर्तव्य हैं ॥ ५८ ॥

एतत्सर्वममात्यादि राज्यं नयपुरःसरः ।
नयत्युन्नतिमुद्युक्तो व्यसनी क्षयमेव तु ॥ ५९ ॥

यह सब कर्तव्य और अमात्यादिके सहित नीतिपूर्वक उन्नतिसे युक्त राजा व्यसनोंको न सेवन करता हुआ उन्नतिको प्राप्त होताहै ॥ ५९ ॥

तस्मिन्धर्मार्थयोर्व्यग्रे तथा चास्वस्थचेतसि ।
सर्वमेतदशेषेण मन्त्री सन्धातुमर्हति ॥ ६० ॥

यदि राजाका चित्त धर्म, अर्थमें व्यग्र होरहाहो वा शरीर अस्वस्थ हो तब यह सम्पूर्ण न्यायके कृत्य मंत्री यथायोग्य करे ॥ ६० ॥

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च ।
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः ॥ ६१ ॥

वाणीका दण्ड, कठोर वचन कहना, कठोर रहना तथा धनको नष्ट करना, मद्यपान, स्त्रीमें आसक्ति, निरन्तर शिकार और जुआ खेलना यह राजाके व्यसन हैं ॥ ६१ ॥

आलस्यं स्तब्धता दर्पः प्रमादो वैरकारिता ।
इति पूर्वोपदिष्टं हि सचिवव्यसनं स्मृतम् ॥ ६२ ॥

आलस्य, स्तब्धता (जडपना) घमण्ड, प्रमाद, सबसे वैर करना यह पूर्वमें उपदेश किये मंत्रीके व्यसनहैं ॥ ६२ ॥

अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः ।
असत्करश्च दण्डश्च परचक्राणि तस्कराः ॥ ६३ ॥

अतिवर्षाका होना, बहुत न्यून वर्षाहोना, टीड़ीकी पडना, मूसोंकी अधिकाई, तोतोंका खेतोंपर टूटपडना, असत्कार्य, दण्ड, शत्रुचक्र, चोर ॥ ६३ ॥

राजानीकप्रियोत्सर्गो मकरव्याधिपीडनम् ।
पशूनां मरणं रोगो राष्ट्रव्यसनमुच्यते ॥ ६४ ॥

राजाकी सेनाका प्रियपन त्याग, नाके और व्याधियोंकी पीड़ा, पशुओंका मरण और रोग फैलना यह राज्यके व्यसनहैं ॥ ६४ ॥

विशीर्णयन्त्रप्राकारपरिखात्वमशस्त्रता ।
क्षीणवासेन्धनान्नत्वं दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ ६५ ॥

कलैं, परिखा और खाई छिन्न भिन्न होजानी, शस्त्रोंका न होना, वस्त्र अन्न, ईंधन इनका क्षीण होजाना यह दुर्गके व्यसन हैं ॥ ६५ ॥

व्ययीकृतः परिक्षिप्तो भक्षितोऽसञ्चितस्तथा ।

मुषितो दूरसंस्थश्च कोषव्यसनमुच्यते ॥ ६६ ॥

बहुत खर्च होगया हुआ, परिक्षिप्त (सब ओरसे घिरा) भक्षण कर लियागया, इकट्ठा न कियागया, चुरायागया तथा अपनेसे दूर होना यह कोषके व्यसन हैं ॥ ६६ ॥

उपरुद्धं परिक्षिप्तं विमानितमसानितम् ।

अभृतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम् ॥ ६७ ॥

रोकीहुई, सब ओरसे घिरीहुई, सन्मान न पाईहुई, तिरस्कृत तनख्वाह न दीगई, व्याधिपीडित, थकित, दूरसे आईहुई, नवीन आई अर्थात् भरती कीहुई ॥ ६७ ॥

परिक्षीणाग्ररहितं प्रहताग्रजवं तथा ।

आशानिर्वेदभूयिष्ठमनृतप्राप्तमेव च ॥ ६८ ॥

कृश, नायकहीन, हतवेगवाली, वा छिन्न आशावाली, तथा असत्यसे प्राप्त हुई ॥ ६८ ॥

कलत्रगर्भं विक्षिप्तमन्तःशल्यं तथैव च ।

भिन्नगर्भं ह्यपसृतमविस्यक्तं तथैव च ॥ ६९ ॥

स्त्रीजनोंसे युक्त, विक्षिप्त (अनिश्चितचित्त) वाली, भीतर किसी प्रकारके द्वेषवाली, जिसके भेद खुलगया है ऐसी, छिन्न भिन्न रहनेवाली तथा बहुत संघट्टसे रहनेवाली ॥ ६९ ॥

क्रुद्धमौलाविमिश्रश्च विशिष्टश्चापि विद्विषा ।

दूष्ययुक्तं स्वविक्षिप्तं मित्रविक्षिप्तमेव च ॥ ७० ॥

क्रोधित, अपने नायकसे विमन, शत्रुसे मिली वा शत्रुका पक्ष करनेवाली वा शत्रुसे युक्त, जिसे कोई दोष लगा हो, विक्षिप्त वा विक्षिप्त मित्रवाली ॥ ७० ॥

विच्छिन्नविविधासारं शून्यमूलं तथैव च ।

अस्वामिसङ्गतश्चापि भिन्नकूटं तथैव च ॥ ७१ ॥

जिसके भार ढोनेकी सामग्री, सुहृद्बल तथा धान्यादि नहीं है, शून्य-मूलवाली, स्वामीकी संगतिसे रहित भिन्न अन्नधान्यवाली ॥ ७१ ॥

दुष्पार्ष्णिग्रहमन्धश्च बलव्यसनमुच्यते ।
अत्र किञ्चिदसाध्यश्च किञ्चित्साध्यन्तदुच्यते ॥ ७२ ॥

खोटे पार्ष्णिग्राह (दहिने बायें विभाग) वाली, वा पश्चात् कोपवाली, कार्यविचारमें अन्धता करनेवाली सेना युद्धके योग्य नहीं होसकती यह सेनाके व्यसन हैं इस विषयमें जो साध्य और जो असाध्य है सो वर्णन करते हैं कि–किसप्रकारसे यह सेना युद्ध करेगी ॥ ७२ ॥

अपरुद्धं हि युध्येत निर्गत्यात्यन्तमूर्जितम् ।
परिक्षितं तु निर्मार्गं सर्वतः परिवेष्टितम् ॥ ७३ ॥

रुकीहुई सेना युद्ध करतीहै, वह अत्यन्त वेगवती होकर निकलती है सब ओरसे घिरी रहनेके कारण परिक्षिप्त सेनाके निकलनेका मार्ग नहीं ७३

अमानितं हि युध्येत कृतमानार्थसंग्रहम् ।
न विमानितमत्यर्थं प्रदीप्तक्रोधपावकम् ॥ ७४ ॥

अमानित अर्थात् तिरस्कार कीहुई सेना, सत्कार करनेसे युद्ध कर-सकती है पर अत्यन्त तिरस्कार कीहुई जिसकी क्रोधाग्नि भभक रही है वह युद्धके योग्य नहीं है ॥ ७४ ॥

युध्येताभृतमत्यर्थं तदात्वे कृतवेतनः ।
न व्याधितमकर्मण्यं व्याधितं परिभूयते ॥ ७५ ॥

तनख्वाह न दीहुईकी वृत्ति दे देनेसे वह उसी समय शत्रुसे युद्धको तयार होती है और व्याधीवाली अकर्मण्य सेना युद्धके योग्य नहीं है कारण कि, व्याधि युक्त शरीरवाला तिरस्कारको प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

परिश्रान्तं हि युध्येत विश्रान्तं सुविधानतः ।

दूरायातं हतप्राणं न शस्त्रग्रहणक्षमम् ॥ ७६ ॥

थकाहुआ युद्ध करता है, पर विश्राम लिया हुआ विधिपूर्वक युद्ध करसकता है दूरसे आया हुआ, अल्प प्राणवाला तौ शस्त्र ग्रहणमें समर्थ ही नहीं है ॥ ७६ ॥

नवागतं हि तद्देश्यैर्मिश्रं युध्येत तन्नयात् ।
हतमुख्यमवीरं तु परिक्षीणं न युध्यते ॥ ७७ ॥

नई आईहुई सेनाको उस देशवासियोंके साथ मिलाकर लड़ावे, जिसका मुख्यनायक मारागया, तथा वीरगण न रहनेसे क्षीणसेना युद्धके योग्य नहीं रहती ॥ ७७ ॥

युध्येतेह प्रतिहतं प्रवीरैः सह सङ्गतम् ।
हताग्रजमनासक्तं प्रमाथितपुरःसरम् ॥ ७८ ॥

प्रतिहतसेना वीरोंके साथ मिलकर युद्धकरसकती है, जिसका आगे चलनेवाला मारागया, जो अनासक्तहै, तथा पहले प्रमथित होचुकीहै ७८॥

आशानिर्वेदलब्धार्थे पूर्णाशन्नात्र युध्यते ।
नाभूयिष्ठप्रसारे तु निरुद्धेऽल्पतया भुवः ॥ ७९ ॥

प्राप्तअर्थमें आशा टूटजानेसे आशापूर्ण हुए बिना युद्ध नहीं करसकती जिसका अधिक फैलाव नहीं वह थोडी होनेसेही निरुद्ध होजातीहै ॥ ७९ ॥

युध्येतावृतसम्प्राप्तमपूर्वायुधवाहनम् ।
कलत्रगर्भादुन्नीतकलत्रं सङ्गरक्षमम् ॥ ८० ॥

यदि अपूर्व आयुध और वाहन हों तो घेरेमें पडी सेनाभी युद्ध करसकतीहै और स्त्रीजनोंसे युक्त सेनाको उसमेंसे स्त्रियें पृथक् करे उनको रक्षित कराय फिर युद्ध करावे ॥ ८० ॥

अनेकराज्यान्तरितमतिक्षिप्तन्न युध्यते ।

अन्तर्गतामित्रशल्यमन्तःशल्यं हि न क्षमम् ॥ ८१ ॥

अनेक राजोंके अन्तरमें रहनेसे विक्षिप्त कहाती है, बहुतोंके आधिपत्य होनेसे युद्ध करनेको समर्थ नहीं होती, और जिसके अन्तरमें अमित्र वा द्वेषहै वह भीतरी शल्यवाली सेना युद्ध करनेमें समर्थ नहीं होती ॥८१॥

अन्योन्यमेव निर्भिन्नं भिन्नगर्भं न युध्यते ।

तथा चापसृतश्चैव तथा राज्यान्तरीकृतम् ॥ ८२ ॥

परस्पर निर्भिन्न अर्थात् भिन्नगर्भवाली युद्ध करनेमें समर्थ नहीं होती इसीप्रकार पलायन कीहुई तथा दूसरे राज्यके अन्तरवाली ॥ ८२ ॥

अवियुक्तं ह्यपक्रान्तं योद्धुन्तन्न क्षमं युधि ।

पितृपैतामहं मौलं तत्कुद्धं सान्त्वितं क्षमम् ॥ ८३ ॥

अवियुक्त तथा आक्रमण कीहुई भी सेना युद्ध करनेको समर्थ नहीं होती पिता पितामह सम्बन्धसे आये, मूलसेना मंत्रीकी सान्त्वना करनेसे संतुष्टता होतीहै ॥ ८३ ॥

मिश्रं शत्रुभिरेकस्थं तदाक्रान्ततयाऽक्षमम् ।

दूष्ययुक्तं न युध्येत युध्येतोद्धृतकण्टकम् ॥ ८४ ॥

जो शत्रुसे मिली एकत्र स्थितहै वह भी आक्रमणमें असमर्थ है, दूष्य सेना युद्ध नहीं करसकती, उसका कण्टक शोधन कराय युद्धकरावे ॥८४॥

विशिष्टं शत्रुसंक्रान्तं शिष्टा आहुर्मनीषिणः ।

प्रधानयोधसंयुक्तं दूष्ययुक्तं समुन्नयेत् ॥ ८५ ॥

शिष्ट बुद्धिमानोंने शत्रुसंक्रमित सेनाको विशिष्ट कहाहै, दूष्ययुक्त सेनाको प्रधानयोधके सहित शुद्ध कर उन्नतकरै ॥ ८५ ॥

स्वविक्षिप्तं सुविषयाक्षिप्तमापद्युदाहृतम् ।

प्रकृष्टदेशकालत्वान्मित्राक्षिप्तमयौगिकम् ॥ ८६ ॥

विषयमें पडीहुई, विक्षिप्त और आपत्तिमें पडीहुई आक्षिप्त है, देशकाल-की गतिसे, मित्रोंसे त्यागी और अयोगिक ॥ ८६ ॥

धान्यादेर्वीवधप्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम् ।
विच्छिन्नवीवधासारं सैन्यं युद्धाय नेष्यते ॥ ८७ ॥

धान्यादिकी प्राप्ति, वीवध और सुहृद्बलका नाम आसारहै इन दोनोंसे रहित सेना भी युद्ध करनेमें समर्थ नहीं होती ॥ ८७ ॥

कृतजानपदारक्ष्यं शून्यमूलं युधि क्षमम् ।
अस्वामिसंहतश्चैव स्वामिना यद्विना कृतम् ॥ ८८ ॥

जनपदकी जिससे रक्षा नहीं वह शून्यमूलवाली युद्ध करनेमें असमर्थ है स्वामिरहित सेना अस्वामि संहतवाली कहाती है ॥ ८८ ॥

न युध्येत भिन्नकूटं भिन्नकूटमनायकम् ।
पश्चात्कोपाभितप्तं तु दुष्पार्ष्णिग्राहमक्षमम् ॥ ८९ ॥

नायकरहितसेना भिन्नकूट कहातीहै और युद्ध करनेको समर्थ नहीं होती पीछे कोपसे तापित हुई, दुःष्पार्ष्णिग्राहवाली कहातीहै वह भी युद्धमें समर्थ नहीं ॥ ८९ ॥

आदेशिकं स्मृतं युद्धं मूढत्वान्न क्रियाक्षमम् ।
बलं व्यसनमित्यादि तत्समीक्ष्य समुत्पतेत् ॥ ९० ॥

कुदेशमें युद्धके निमित्त आह्वान कीहुई, मूढ होनेसे क्रियामें असमर्थ यह सब सेनाके व्यसनहैं, इनको देखभालकर चढाई करै ॥ ९० ॥

दैवोपपीडितं मित्रं ग्रस्तं शत्रुबलेन च ।
कामक्रोधसमुत्थैश्च दोषैः सम्परिकीर्त्तितैः ॥ ९१ ॥

दैवसे पीडित, मित्रवाली, शत्रुसेनासे ग्रस्त सेनाको कामक्रोधसे उठे दोषोंसे युक्त होनेसे व्यसनसंयुक्त कहाहै ॥ ९१ ॥

नरेन्द्राद्याः प्रतकृतयः सप्त याः परिकीर्त्तिताः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं तासां व्यसनमुच्यते ॥ ९२ ॥

राजाको आदि लेकर जो सात प्रकृतियें कहीहैं उनके व्यसन पूर्व पूर्वमें अधिक कष्टकर गिने जाते हैं ॥ ९२ ॥

इत्यादि सर्वं प्रकृतं यथा वद्बुध्येत राजा व्यसनं प्रयत्नात् ।
बुध्या च शक्त्या व्यसनस्य कुर्यादकालहीनं व्यपरोपणंहि ९३

इसप्रकारसे राजा विधिपूर्वक सबके व्यसनोंको जानै, और अपनी बुद्धि तथा शक्तिसे व्यसनको अधूरेपनमेंही नष्ट करदे, अकालमें हीनवस्तु सहजमें नष्ट होसकतीहै ॥ ९३ ॥

प्रकृतिव्यसनानि भूतिकामः समुपेक्षेत नहि प्रमाददर्पात् ।
प्रकृतिव्यसनान्युपेक्षते यो न चिरात्तं रिपवःपराभवन्ति९४

विभूतिकी इच्छावाला प्रमाद वा दर्पसे प्रकृतिके व्यसनोंकी उपेक्षा नकरै प्रकृतिके व्यसनोंकी उपेक्षा करनेवालेको शीघ्रही शत्रु तिरस्कार करतेहैं९४

इदमिदमिति सम्यक् कर्मणा योजनीयं
नियतमिति विचिन्त्य प्रापयेदीहमानः ॥
सुनयपिहितरन्ध्रः प्राकृतो यस्य वर्गः
क्षितिपतिरुपभुङ्क्ते स त्रिवर्गं चिराय ॥ ९५ ॥

इति श्रीका०नी०उत्सारप्रशंसाप्रकृतिव्यसनानि त्र०स० १३.

यह ऐसा यह ऐसे इसप्रकारसे चेष्टावाला राजा निरन्तर प्रकृतियोंको कार्यमें लगावै, जिस राजाकी प्रकृतिका छिद्र नीतिमार्गसे ढका हुआहै, वह राजा चिरकालतक धर्म, अर्थ, कामको भोगताहै ॥ ९५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां उत्सारप्रशंसा
प्रकृतिव्यसनानि त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः १४.

अमात्याद्याःप्रकृतयो मित्रान्ता राज्यमुच्यते ।
अशेषराज्यव्यसनात्पार्थिवव्यसनं गुरु ॥ १ ॥

अमात्यको आदिलेकर मित्रपर्यन्त प्रकृतियें यह सब राज्य कहाता है, सब राज्यके व्यसनसे राजाका व्यसन भारी है ॥ १ ॥

राजा त्वव्यसनी राज्यव्यसनापोहनक्षमः ।
न राज्यव्यसनापोहसमर्थं राज्यमूर्जितम् ॥ २ ॥

जो राजा व्यसनग्रस्त न हो, वही राज्यके व्यसन दूरकरनेमें समर्थ है, अन्यथा वह बृहत् राज्यके व्यसन दूरकरनेमें समर्थ नहीं है ॥ २ ॥

अशास्त्रचक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते ।
वरमन्धो न चक्षुष्मान्मदादाक्षिप्तसत्पथः ॥ ३ ॥

जिस राजाके शास्त्ररूपी नेत्र नहीं है वह राजा अन्धा कहा जाता है नेत्रोंवाला अन्धा अच्छा नहीं जिसने मदसे सन्मार्गको बिगाड दियाहै॥३॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रकुशलैरन्धः सन्तार्यते नृपः ।
चक्षुष्मांश्च मदान्धः सन्नात्मानं हन्त्यशेषतः ॥ ४ ॥

मन्त्र जाननेवाले कुशल मन्त्रियोंसे अन्धा राजा तार दिया जाता है, और नेत्रोंवाला मदान्ध होनेसे विशेष प्रकारसे अपनी आत्माको नष्ट करता है ॥ ४ ॥

शास्त्रचक्षुर्नृपस्तस्मान्महामात्यमते स्थितः ।
धर्मार्थप्रतिघातीनि व्यसनानि परित्यजेत् ॥ ५ ॥

राजा शास्त्रहीके नेत्रवाला है वह महाअमात्योंके मार्गमें स्थित हुआ धर्म अर्थके प्रतिघात करनेवाले व्यसनोंको त्यागदे ॥ ५ ॥

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च ।

स्मृतं व्यसनतत्त्वज्ञैः क्रोधजं व्यसनत्रयम् ॥ ६ ॥

वाणीका दण्ड, कठोरता, अर्थदूषण यह तीन व्यसन व्यसनके जाननेवालोंने क्रोधसे उत्पन्न हुए कहेहैं ॥ ६ ॥

कामजं मृगया द्यूतं स्त्रियः पानं तथैव च ।
व्यसनं व्यसनार्थज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

मृगया जुवा स्त्री और पान यह चार व्यसन व्यसनके जाननेवालोंने कामज कहेहैं ॥ ७ ॥

वाक्पारुष्यपरं लोक उद्वेजनमनर्थकम् ।
न कुर्यात्प्रियया वाचा प्रकुर्याज्जगदात्मताम् ॥ ८ ॥

जो पुरुष वाणीकी कठोरता करता है, उससे लोक उद्वेजित होतेहैं और वह अनर्थकारी है, इससे वह वाणी न बोले और प्यारी वाणीसे जगत्को अपने वशमें करै ॥ ८ ॥

अकस्मादेव यः कोपादभीक्ष्णं बहु भाषते ।
तस्मादुद्विजते लोकः सस्फुलिङ्गादिवानलात् ॥९॥

जो अकस्मात्ही क्रोधसे बहुत कुछ कहने लगता है, उससे लोग विपरीत होजाते हैं, जैसे चिनगारी उडानेवाली अग्निसे लोग उद्वेजित रहते हैं ॥ ९ ॥

हृदये वागसिस्तीक्ष्णो मर्मच्छिद्धि पतन्मुहुः ।
तेन च्छिन्नो नरपतिः स दीप्तो याति वैरिताम् ॥१०॥

वाणीरूपी तलवार हृदयमें लगकर वारंवार मर्मको छेदन करती है, उससे छिन्न हुआ तथा क्रोधित हुआ पुरुष सदा वैरके योग्य होता है अर्थात् राजासे सदा वैर करता है ॥ १० ॥

नोद्वेजयेज्जगद्वाचा रूक्षया प्रियवाग्भवेत् ।
प्रायेण प्रियकर्मा यो कृपणोऽपि हि सेव्यते ॥ ११ ॥

रूखी वाणींसे जगत्को उद्वेजित न करै सदा प्यारी वाणी बोले, बहुधा कृपणभी हो पर प्रियवाणीवाला सदा सेवित होता है ॥ ११ ॥

असिद्धसाधनं षड्भिः शासनं दण्डमुच्यते ।
तद्युक्तेऽपनये दण्ड्ये युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ १२ ॥

सत्पुरुषोंने छहोंमेंसे दण्डशासनको असिद्ध शासन कहा है, यदि अनीतिसे युक्त हो दण्ड दिया जाता है तौ वह ठीक नहीं है वह युक्त परही दण्ड दियां जाय तौ बड़ाईके योग्य है ॥ १२ ॥

उद्वेजयति भूतानि दण्डपारुष्यवान्नृपः ।
भूतान्युद्वेजमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम् ॥ १३ ॥

दण्ड देनेवाला तथा कठोर वचन कहने वाला राजा प्राणियोंको विरक्त कर देता है, और वे विरक्त हुए प्राणी निश्चय शत्रुओंसे मिलजाते हैं॥ १३॥

आश्रिताश्चैव लोकस्य विवृद्धिं यान्ति विद्विषः ।
विवृद्धाश्च विनाशाय तस्मान्नोद्वेजयेत्प्रजाः ॥ १४ ॥

और उस प्रजाके आश्रित होनेसे शत्रुगण वृद्धिको प्राप्त होजाते हैं, और शत्रुकी वृद्धि अपने नाशके लिये होती है, इसकारण प्रजाको विरक्त न करै ॥ १४ ॥

लोकानुग्रहकर्त्तारः प्रवर्द्धन्ते महीभुजः ।
लोकवृद्ध्या नरेन्द्राणांवृद्धिस्तत्सङ्क्षये क्षयः॥ १५ ॥

लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले राजा वृद्धिको प्राप्त होते हैं, लोककी वृद्धिसे राजाकी वृद्धि और लोकक्षयसे राजाका क्षय होताहै ॥ १५ ॥

महत्स्वप्यपराधेषु दण्डं प्राणान्तिकं त्यजेत् ।
ऋते राज्यापहारात्तु युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ १६ ॥

बड़े अपराधमें भी प्राणवियोगका दण्ड न देके बल राज्य हरण करनेवालेहीको यह दण्ड है इससे युक्त दण्डकीही प्रशंसा की है ॥ १६ ॥

दूष्यस्यादूषणार्थञ्च परित्यागो महीयसः ।
अर्थस्य नीतितत्त्वज्ञैरर्थदूषणमुच्यते ॥ १७ ॥

दूष्य तथा दूषित अर्थका अवश्य त्याग करना चाहिये, नीतिके ज्ञाताओंने अर्थहानिकोही अर्थ दूषण कहाहै ॥ १७ ॥

तदकस्मात्समाविष्टः कोपेनातिबलीयसा ।
नित्यमात्महिताकाङ्क्षी न कुर्य्यादर्थदूषणम् ॥ १८ ॥

इससे अकस्मात् प्राप्त हुए अत्यन्त बलिष्ठ क्रोधसे अपनेहितकी इच्छावाला अर्थदूषण न करै ॥ १८ ॥

यानक्षोभो यानवतो यानाभिहरणं तथा ।
क्षुत्पिपासाश्रमायासशीतवातोष्णपीडनम् ॥ १९ ॥

सवारीमें जानेवालोंको यानका क्षोभ, तथा सवारीका हरण, भूँख, प्यास, श्रम, परिश्रम, शीत, वात, उष्णताकी पीडा ॥ १९ ॥

अभियानस्य सम्पत्त्या यानव्यसनजं महत् ।
दुःख प्रतप्तसिकताकुशकण्टकभूमयः ॥ २० ॥

यह अभिगमनकी सम्पात्तिसे यानके व्यसन कहे हैं, यह भी महान् व्यसनहैं दुःखरूप तपी हुई बालू कुशकण्टकसंयुक्त भूमियोंमें विचरण ॥ २० ॥

वृक्षसङ्कटजा दोषा लताकण्टकपाटनम् ।
शैलपादलताजालस्थाणुवल्मीकपीडनम् ॥ २१ ॥

तथा वृक्षोंके संघट्टसे उत्पन्न हुए दोष, लता और कांटोंका पाटना, पर्वतोंके स्थान, लताओंके समूह, ठूंठ और वल्मीकके स्थानोंका पीडन ॥ २१ ॥

प्रच्छन्नोपगतैः शैलसरिद्विपिनकुक्षिषु ।
वधबन्धपरिक्लेशैः सामन्तादटविकादिभिः ॥ २२ ॥

सबओरसे वनमें विचरनेवालोंको वधबंधनकी प्राप्ति पर्वत नदी वनोंके किनारोंमें छिपकर गमन करना ॥ २२ ॥

स्वसैन्यैश्च स्वकल्पैश्च परभिन्नैश्च मारणम् ।
ऋक्षाजगरमातङ्गसिंहव्याघ्रभयानि च ॥ २३ ॥

अपनी सेना और सामग्री सामर्थ्यसे तथा दूसरोंसे भिन्न होनेसे मारण रीछ अजगर सर्प हाथी सिंह और व्याघ्रोंका भय ॥ २३ ॥

दवाग्निधूमसंरोधो दिङ्मोहो भ्रमणानि च ।
इत्यादि पृथिवीन्द्राणां मृगयाव्यसनं स्मृतम् ॥ २४ ॥

दवाग्नि लगना, धूमसंकट, दिशाका मोह होजाना तथा अतिशय भ्रमण करना यह राजोंको मृगयाके व्यसन वर्णन कियेहैं ॥ २४ ॥

जितश्रमत्वं व्यायाम आममेदकफक्षयः ।
चरस्थिरेषु लक्षेषु बाणसिद्धिरनुत्तमा ॥ २५ ॥

जितश्रमी होना अर्थात् परिश्रमको कुछ न गिनना, कसरती होना, आम-मेदा और कफका क्षय होना, लक्ष्य निशानेमें चिरास्थिरता, और श्रेष्ठबाणकी सिद्धि होना ॥ २५ ॥

मृगयायां गुणानेतानाहुरन्ये न तत्क्षमम् ।
दोषाः प्राणहराः प्रायस्तस्मात्तद्व्यसनं महत् ॥ २६ ॥

यह इतने मृगयाके गुण वर्णन कियेहैं, पर दूसरे इसको नहीं मानते, वह कहते हैं कि इसके दोष प्रायः प्राण हरनेवाले हैं, इसकारण यह बडा व्यसनहै २६

आमादयो हि जीर्यन्ते योग्ययैव दिवानिशम् ।
चरेषु यत्र लक्ष्येषु बाणसिद्धिश्च जायते ॥ २७ ॥

दिन रात यथायोग्य आहार विहार करनेसे आमादि जीर्ण होजातेहैं, और दूसरी वस्तुओंमें निशान लगानेसे बाणसिद्धि होजातीहै ॥ २७ ॥

अथ चेन्मृगयाक्रीडां वाञ्छेत नगरान्तिके ।
कारयेन्मृगयारण्यं क्रीडाहेतोर्मनोरमम् ॥ २८ ॥

और जो मृगया क्रीडाकी इच्छाही हो तो अपने नगरके समीपमें अपने क्रीडा करनेके निमित्त मनोहर क्रीडावन बनवावे ॥ २८ ॥

परिक्षिप्तं परिखया मृगाणामप्यगम्यया ।
आयामपरिणाहाभ्यामर्द्धयोजनसंमितम् ॥ २९ ॥

जिसके चारों ओर ऐसी परिखा हो जिसको मृग न लाँघसकै, वह लम्बा व चौडानमें दो कोशकी हो ॥ २९ ॥

गिरेरुपान्ते नद्या वा पर्याप्तजलशाद्वलम् ।
अकण्टकलतागुल्मं विषपादपवर्जितम् ॥ ३० ॥

पर्वत वा नदीके समीप जहां जलकी अच्छी प्रकार प्राप्ति होसकै कांटे- लताओंके गुल्म और विषेले वृक्ष वहां न हों ॥ ३० ॥

पादपैः पुष्पफलदैः विज्ञातैश्चित्तहारिभिः ।
स्निग्धशीतघनच्छायैर्विटपैरुपशोभितम् ॥ ३१ ॥

उसमें पुष्पफलवाले वृक्ष अपने जाने हुए चित्तहरण करनेवाले हों स्निग्ध शीतल घनेछायावाले वृक्षोंसे शोभित हो ॥ ३१ ॥

पांशुपूरितनिश्छिद्रं शुभ्रप्रदरकन्दरम् ।
दलितस्थाणुवल्मीकपाषाणं समभूतलम् ॥ ३२ ॥

रेतेसे सम्पन्न छिद्र रहित अच्छी दरीकन्दराओंसे सम्पन्न ठूंठ बँबई पत्थ- रोंसे रहित समानभूमिवाला ॥ ३२ ॥

शोधितग्राहसलिलं सम्भूतजलदाशयम् ।
नानापुष्पसमाकीर्णं नानाविहगसङ्कुलम् ॥ ३३ ॥

जिसके जलकी गहराई और ग्राहादिका शोधकर लिया हो ऐसे बडे जलाशयवाला, अनेक पुष्पोंसे युक्त तथा अनेक पक्षियोंसे व्याप्त ॥ ३३ ॥

मृगसङ्घातसम्पूर्णं हस्तिनीकलभान्वितम् ।

भग्नदन्तनखव्याघ्रं छिन्नशृङ्गविषाणि च ॥ ३४ ॥

मृगोंके समूहसे पूर्ण हथिनी और हाथीके बच्चोंसे भरा हुआ, दांत और नख तोडे हुए व्याघ्रोंवाला, तथा शींग तोडे हुए मृगोंवाला ॥ ३४ ॥

सुखसंसेव्यलतया पुष्पवल्लीपिनद्धया ।
वनराज्या परिक्षिप्तं परिखातटजातया ॥ ३५ ॥

सुखसे प्राप्त होने योग्य पुष्पलताओंके आश्रित, वनराजीके समीप छोडे हुए जो परिखाके समीप लगाई हो उसमें स्थिति करै ॥ ३५ ॥

बहिर्दूरान्तराभोगानिर्वृक्षसमभूतलम् ।
अगम्यं रिपुसैन्यानां मनःप्रीतिविवर्द्धनम् ॥ ३६ ॥

उनके थोडी दूरतक वृक्षरहित समान भूमि हो जो शत्रुसेनाको अगम्य मनको प्रसन्न करनेवाला मृगया वन हो ॥ ३६ ॥

तद्वने चरचित्तज्ञैः क्लेशायाससहैर्दृढैः ।
रक्षितं रक्षिभिः स्वाप्तैर्भूभुजां भूरिभूतये ॥ ३७ ॥

उस वनमें विचरनेवाले, स्वामीके चित्तको जाननेवाले क्लेश परिश्रमके सहने वाले, दृढ, आप्त रक्षाकरनेवाले राजाकी बड़ी ऐश्वर्यसिद्धिके लिये रक्षा करै ॥ ३७ ॥

तत्कर्माप्तो नरेन्द्रस्य जनो जितपरिश्रमः ।
क्रीडनायास्य विविधा मृगजातीःप्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

परिश्रम जीतेहुए पुरुष राजाके मृगयाकार्यके निमित्त तथा क्रीडाके निमित्त इस वनमें अनेक जातिके मृगोंको प्रवेश करावै ॥ ३८ ॥

अन्यकार्याविरोधेन प्रातश्चंक्रमणक्षमः ।
क्रीडनायाविशेद्राजा तदाप्तैः सहितो मतैः ॥ ३९ ॥

जिसमें दूसरे कार्योंमें विघ्न न पडै, ऐसे प्रभातकालमें संक्रमणमें समर्थ राजा अपने अभिमत आप्तपुरुषोंके सहित उसमें प्रवेश करै ॥ ३९ ॥

यदा च प्रविशेद्राजा क्रीडनार्थं तदा बहिः ।
सन्नद्धं यत्नतस्तिष्ठेत्सैन्यं दूरान्तगोचरम् ॥ ४० ॥

जब राजा मृगक्रीडाके निमित्त उस वनमें प्रवेश करै तब राजाकी सेना दूरसे देखती हुई खडी रहै ॥ ४० ॥

सद्भिर्ये मृगयायाने गुणाः साधु प्रकीर्त्तिताः ।
क्रीडाप्रीतो नरपतिस्तांस्तत्र समवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

सत्पुरुषोंने मृगयायानमें जितने गुण कीर्तन किये हैं, क्रीडामें प्रसन्न होनेवाला राजा वह सब गुण इस क्रीडावनमें प्राप्त करसकता है ॥ ४१ ॥

विधिरेष समुद्दिष्टो मृगयाक्रीडने वरः ।
न गच्छेदन्यथा राजा मृगयायां मृगा यथा ॥ ४२ ॥

मृगयाक्रीडनमें यह विधि सबसे उत्तम देखी है इसके सिवाय राजा मृगोंकी समान मृगयाके निमित्त न जाय ॥ ४२ ॥

महता रक्षणेनापि धनस्य द्राग्विमुक्तता ।
निःसत्यता निष्ठुरता क्रोधो वाक्शस्त्रखण्डनम् ॥ ४३ ॥

इसमें बडी कठिनतासे इकट्ठे किये हुए धनका एक साथ व्यय होता है, और निःसत्यता निठुराई क्रोधकी वाणी शत्रुका खण्डन ॥ ४३ ॥

लोभो धर्मक्रियालोपः कर्मणामप्रवर्त्तनम् ।
सत्समागमविच्छित्तिरसद्भिः सह वर्त्तनम् ॥ ४४ ॥

लोभ, धर्मक्रियाका लोप, कर्मोंमें अप्रवृत्ति, सत्पुरुषोंके समागमका वियोग, असत्पुरुषोंके साथ वर्तना ॥ ४४ ॥

अर्थनाशक्रियावश्यं नित्यं वैरानुबन्धिता ।
सत्यप्यर्थे निराशत्वमसत्यपि च रागिता ॥ ४५ ॥

अर्थका नाश, क्रियाकी वश्यता, नित्य वैरका बाँधना, अर्थके होनेमें निराशता और न होनेवाले अर्थमें प्रेम ॥ ४५ ॥

प्रतिक्षणं क्रोधहर्षौ सन्तापश्च प्रतिक्षणम् ।
प्रतिक्षणञ्च संक्लेशः साक्षिप्रश्नः प्रतिक्षणम् ॥ ४६ ॥

प्रतिक्षणमें क्रोध और हर्ष, प्रतिक्षणमें सन्ताप होना, क्षणक्षणमें क्लेश करना क्षणक्षणमें साक्षी पूँछना ॥ ४६ ॥

स्नानादिगात्रसंस्कारपरिभोगेष्वनादरः ।
अव्यायामोऽङ्गदौर्बल्यं शास्त्रार्थप्रत्यवेक्षणम् ॥ ४७ ॥

स्नानादि शरीरसंस्कार और उसके भोगमें अनादर, व्यायाम न करना, अंगकी दुर्बलता, शास्त्रके अर्थको देखना ॥ ४७ ॥

गूहनं मूत्रशकृतोःक्षुत्पिपासोपपीडनम् ।
इत्यादींस्तत्र निपुणा द्यूतदोषान्प्रचक्षते ॥ ४८ ॥

मूत्रपुरीषके वेगको रोकना, भूंख प्याससे पीड़ित रहना, इत्यादि यह सब द्यूतके दोष हैं, इससे जुआ न खेलै ॥ ४८ ॥

पाण्डवो धर्मराजस्तु लोकपाल इवापरः ।
द्यूतेन व्यसता विद्वान्कलत्राण्यपि हारितः ॥ ४९ ॥

पाण्डुके पुत्र धर्मराज दूसरे लोकपालकेही समान थे, पर उस महाबुद्धिमान्ने द्यूतरूपी असत्कार्यमें अपनी प्रिया द्रौपदी हारदी ॥ ४९ ॥

नलश्च राजा द्यूतेन हृते राज्यमहोदये ।
धर्मदारान्वने त्यक्त्वा परकर्माकरोत्प्रभुः ॥ ५० ॥

राजा नलकाभी जुआ खेलनेके कारण बडा राज्य हरण होगया, जिसने अपनी धर्मपत्नी दमयन्तीको वनमें त्यागकर दूसरेकी सेवारूप कर्म किया ५०

तुल्यो भुवीन्द्रतुल्यस्य यस्य नास्ति धनुर्द्धरः ।
स रुक्मी रुक्मतुल्याभो द्यूतदोषाद्गतः क्षयम् ॥ ५१ ॥

जो रुक्मी इन्द्रकी समान बलवान् था जिसकी बराबर कोई धनुषधारी

नहीं था, वह सुवर्णकी कान्तिवाला रुक्मी जुए खेलनेकेही कारण बलराम-जीके हाथसे मारागया [जब जुएमें बलरामजीसे धांधली की और उनके जीते दावकोभी हारा कहा तथा आकाशवाणीका कहाभी न माना तब क्रोधसे बलरामने उसे मारडाला] ॥ ५१ ॥

राजा कौशिकरूपाणां दन्तवक्रोऽपि मन्दधीः ।
तीव्रद्यूतकृताद्दोषाद्दन्तभङ्गमवाप्तवान् ॥ ५२ ॥

और कौशिकरूप देशोंका राजा मन्दबुद्धि दन्तवक्र उसी जुएकी सभामें बैठनेसे और बलरामजीके ऊपर हंसनेसे जुएके कारणही अपने दांत तुडवा बैठा ॥ ५२ ॥

द्यूतादनर्थसंरम्भो द्यूतात्स्नेहक्षयो महान् ।
पक्षाणां सहितानाञ्च द्यूताद्भेदः प्रवर्त्तते ॥ ५३ ॥

द्यूतसेही अनर्थ होताहै द्यूतसेही स्नेहक्षय होताहै, और द्यूतसेही अपने पक्षवालोंका, हितकारियोंका भेद होताहै ॥ ५३ ॥

इति केवलदोषं हि द्यूतं राजा परित्यजेत् ।
समाह्वयं हि मेधावी दर्पिणां विनिवारयेत् ॥ ५४ ॥

इससे सर्वथा दोषहीवाले द्यूतकर्मको राजा त्यागदे, इसमें कोई भी गुण नहीं है, बुद्धिमान् अभिमानी पुरुषोंके समाह्वय [दाँवपर मनुष्यादि प्राणियोंका लगाना] निवारण करै ॥ ५४ ॥

कालातिपातः कार्याणां धर्मार्थपरिपीडनम् ।
नित्याभ्यन्तरवर्त्तित्वात्साधु प्रकृतिकोपनम् ॥ ५५ ॥

कार्य करनेका समय बितादेना, धर्म अर्थमें बाधा करना, नित्य भीतर २ बढनेवाला प्रकृतिका कोप ॥ ५५ ॥

रहस्यभेदस्तत्पक्षादकार्येषु प्रवर्त्तनम् ।
ईर्ष्यामर्षस्तथा क्रोधोऽनुरोधः साहसं तथा ॥ ५६ ॥

गुप्तबातका प्रगट कर देना उसके पक्षसे अकार्यमें प्रवृत्त होना ईर्षा अमर्ष (असहन शीलता) क्रोध, हठ, साहस ॥ ५६ ॥

इत्यादि च स्त्रीव्यसनं पूर्वं यच्च प्रकीर्त्तितम् ।
तस्मात्स्त्रीव्यसनं राजा राज्यकामः परित्यजेत् ॥५७॥

यह सब अतिस्त्रीसेवनके व्यसनहैं, जो पूर्वमें कहे हैं, इससे राज्यकी इच्छावाला राजा स्त्री व्यसनको त्यागदे ॥ ५७ ॥

स्त्रीमुखालोकनतया व्यग्राणामल्पचेतसाम् ।
ईहितानि हि गच्छन्ति यौवनेन सह क्षयम् ॥ ५८ ॥

जो अल्पचित्त पुरुष स्त्रीके मुखदेखनेमेंही व्यग्र रहतेहैं, उनकी सब चेष्टायें उनकी युवा अवस्थाके साहित क्षय होजाती हैं ॥ ५८ ॥

गमनं विह्वलत्वञ्च संज्ञानाशो विवस्त्रता ।
असम्बन्धप्रलापित्वमकस्माद्व्यसनं मुहुः ॥ ५९ ॥

चलना अर्थात् घूमते रहना, व्याकुलता, संज्ञानाश, वस्त्ररहित होजाना, वृथा बकबक करना, प्रलाप, अकस्मात् व्यसनमें पडना ॥ ५९ ॥

प्राणग्लानिः सुहृन्नाशः प्रज्ञाश्रुतिमतिभ्रमः ।
सद्भिर्वियोगोऽसद्भिश्च सङ्गोऽनर्थेन सङ्गमः ॥ ६० ॥

अपने प्राणोंमें ग्लानि करना, मित्रजनोंका नाश, बुद्धि, शास्त्र और मतिमें भ्रम होना, सत्पुरुषोंसे वियुक्त रहना, असत्पुरुषोंकी संगति करना, अनर्थोंका समागम ॥ ६० ॥

स्खलनं वेपथुस्तन्द्रा नितान्तस्त्रीनिषेवणम् ।
इत्यादिपानव्यसनमत्यन्तं सद्भिर्गर्हितम् ॥ ६१ ॥

पद पदपर स्खलित होना, शरीरमें कंपा, तन्द्रा, अधिकतर स्त्रीका सेवन, इत्यादि यह मद्यपानके व्यसनहैं, जिनकी सत्पुरुषोंने बडी निन्दा की है ॥ ६१ ॥

श्रुतशीलबलोपेताः पानदोषेण भूयसा ।
क्षयमक्षीणनामानो जग्मुरन्धकवृष्णयः ॥ ६२ ॥

शास्त्र और शीलतासम्पन्न, कभी क्षीण न होनेवाले अन्धक और वृष्णि मद्यपानके महादोषसेही परस्पर युद्धकर प्रभासक्षेत्रमें क्षय होगये * [देखो मूसलपर्व महाभारत वा श्रीमद्भागवत] ॥ ६२ ॥

योगीश्वरश्च भगवान्भार्गवो भृगुतुल्यधीः ।
शुक्रः पानमदात्तीव्राद्बुभुजे शिष्यमौरसम् ॥ ६३ ॥

भृगुके तुल्य बुद्धिमान् योगीश्वर भार्गव ऐश्वर्यसम्पन्न शुक्राचार्य तीव्र-पानके मदसेही शिष्यका भोग लगागये, "यह इसप्रकारसेहै कि, जब वृहस्पतिका पुत्र कच शुक्रजीके पास मृतसंजीविनी विद्या पढने गया तब दैत्योंको यह बात न रुची तब उन्होंने कईबार उसको मारडाला पर शुक्राचार्यने उसको ज्ञानसे प्राप्तकर जिवादिया । पीछे दैत्योंने कचको मारकर उसकी मद्यचुवायक शुक्रजीकोही पिलादी और जब कचका कहीं पता न लगा तब उन्होंने उसे अपने पेटमें जान वहीं जिवाय विद्या पढाई, तब वह शुक्रजीका उदर भेदकर निकला और शुक्रजीको जिवाय अपने घरगया" ॥ ६३ ॥

पानाक्षिप्तो हि पुरुषो यत्र तत्र प्रवर्त्तते ।
यात्यसंव्यवहार्यत्वं यत्र तत्र प्रवर्त्तनात् ॥ ६४ ॥

मद्यपानसे क्षिप्तहुए पुरुष जहाँ तहाँ प्रवृत्त होते हैं, और जहाँ तहाँ की प्रवृत्तिसे वह पुरुष व्यवहारके योग्य नहीं रहते हैं ॥ ६४ ॥

कामं स्त्रियं निषेवेत पानं वा साधुमात्रया ।

---

* जब यदुवंशियोंको शापहुआ तब वे सबकोई दुर्वासाके शापनिवारणके निमित्त प्रभास क्षेत्रमें गये वहां जाकर मद्यपान कर मतवाले होगये और परस्पर युद्ध करने लगे और लडते २ एक दूसरेको संहार करने लगे यहांतक हुआ कि, परस्पर युद्ध करते २ सब नष्टहोगये एक दो उनमेंसे शेष रहेथे ।

न द्यूतमृगये विद्वान्नात्यन्तव्यसने हि ते ॥ ६५ ॥

चाहै स्त्रीका सेवन करै, और थोडी मात्राका मद्यसेवन करै; परन्तु द्यूत और मृगया यह तौ किसीप्रकार सेवन न करै, यह महाव्यसन है ॥ ६५ ॥

तदपनयविधिज्ञैः श्रेयसां विघ्नकारि
व्यसनमिदमुदारं सप्त चैवोपदिष्टम् ।
जनयति हि निसर्गादेकमप्याशु नाशं
किमु न भवति हन्ता यौगपद्योदयेन ॥ ६६ ॥

इसप्रकार अनीतिके प्रवृत्त करनेवाले तथा कल्याण वस्तुओंमें विघ्न करनेवाले नीतिज्ञाता महात्माओंने यह सात व्यसन कहे हैं अधिकाईसे यह एकही नाश कर देता है, यदि यह सब एक साथ उदय होजाँय तो नाश होनेमें सन्देहही क्या है ॥ ६६ ॥

घटयति परिभोगग्राहितामिन्द्रियाणां
श्रुतमपि विनिहन्ति श्रेष्ठतां प्रेष्ठताञ्च ।
चलयति च विभूतिं भूयसीमप्यनीचै
रपिविबुधमतीनां सप्तकोऽयं दुरन्तः ॥ ६७ ॥

इन सातोंके परिभोगसे इन्द्रियोंकी भोगमें प्रवृत्ति विशेष होती है और शास्त्र, श्रेष्ठता, अत्यन्त प्रकर्षता इन सबका नाश करते हैं । बडे बडोंकी विभूतिको भी कि, जिनकी देवताकी समान बुद्धि है, उनकोभी चलायमान करदेते हैं, यह सातों व्यसन बड़े कठिन हैं ॥ ६७ ॥

अरिगणा नियतं व्यसने स्थितं परिभवन्ति भवन्ति च दुश्छिदः।
अपगतव्यसनाश्च बुधा रिपून्परिभवन्ति भवन्ति च दुश्छिदः६८

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सप्तव्यसनवर्गो
नाम चतुर्दशः सर्गः ।

शत्रुलोग निरन्तर व्यसनमें प्राप्त हुए राजाका तिरस्कार करते हैं, और स्वयं तिरस्कार नहीं पाते और जो विद्वान् व्यसनोंसे रहित हैं वह अपने शत्रुओंका तिरस्कार करके आप तिरस्कारको प्राप्त नहीं होते ॥६८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सप्तव्यसनवर्गो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः १५.

नानाप्रकारैर्व्यसनैर्विमुक्तः शक्तित्रयेणाप्रतिमेन युक्तः ।
परं दुरन्तव्यसनोपपन्नं यायान्नरेन्द्रो विजयाभिकाङ्क्षी ॥ १ ॥

अनेक प्रकारके व्यसनोंसे रहित और महाप्रभावशालिनी तीन शक्तियोंसे युक्त जीतनेकी इच्छा करनेवाला राजा बडे व्यसनोंसे युक्त शत्रुपर चढाईकी इच्छा करै ॥ १ ॥

प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति ।
तत्रैव पक्षो व्यसनेर्हिनित्यं क्षमस्तुसन्नभ्युदितोऽभियायात् ॥ २ ॥

प्रायः महात्मा पुरुष व्यसनको प्राप्तहुए पुरुषपरही चढाईको कहते हैं और उसका पक्षभी नित्य व्यसनमें ग्रस्त हो तो उसपर गमन करैं ॥२॥

यदा क्षमस्तु प्रसभं निहन्तुं पराक्रमादूर्जितमप्यमित्रम् ।
तदा हि यायादहितानि कुर्वन्परस्य वा कर्षणपीडनानि ॥ ३ ॥

अथवा जिस समय अपने पराक्रमसे बढेहुए भी शत्रुको बलप्रकाश कर जीतनेमें समर्थ हो उस समय उस शत्रुका अहित करताहुआ कर्षण और पडिन करताहुआ गमन करै ॥ ३ ॥

सम्पन्नसस्यं विषयं परस्य यायात्प्रमृग्यं विजयाय राजा ।
सस्योपघातेन परस्य वृत्तिच्छेदः स्वसैन्योपचयश्च साधु ॥४॥

राजा विजयकी इच्छा करनेके निमित्त शत्रुके धान्यसे भरे पुरे देशकी और गमन करै उस धान्यके उपघातसे शत्रुकी वृत्तिका छेदन और अपनी सेनाकी वृद्धि होती है ॥ ४ ॥

विशुद्धपृष्ठः पुरतो विचिन्वन्भयप्रदेशान्परकर्मवेदी ।
सुवीवधासारविशुद्धमार्गो विशेद्धरित्रीं द्विषतोऽप्रमत्तः ॥ ५ ॥

रक्षित पृष्ठभागवाला, आगेका मार्गभी शोधन किये हुए दूसरे शत्रुके कर्मका जाननेवाले भयस्थानोंकी खोज करता हुआ अच्छे सेनाके फैलावसे तथा धन धान्य सम्पन्न होनेसे विशुद्ध मार्गवाली शत्रुकी भूमिमें अप्रमत्त होकर प्रवेश करै ॥ ५ ॥

समे प्रदेशे विषमे च भूमेर्निम्ने स्थले वा सुमुखेन यायात् ।
अनातुरःसन्नभयोहि विद्वान्सन्नद्धगुल्मो विहितान्नपानः ॥६॥

समान विषम और नीचे भूमिके स्थानोंमें सन्मुख व्याकुलता रहित होकर गमन करै और विद्वान् भयकी प्रतिक्षण शोध लेता हुआ सन्नद्धता युक्तही झाडी आदियोंमें स्थित होकर अन्नपान करै ॥ ६ ॥

ग्रीष्मे प्रभूताम्बुवनेन यायान्निवासनार्थं करिणां यथा तु ।
कृतेऽम्भसोग्रीष्मकृतात्प्रतापाद्भवन्तिकुष्ठानिमतङ्गजानाम् ॥ ७ ॥

गरमीके दिनोंमें हाथियोंके सुख देनेके निमित्त प्रभूत जलवाले स्थानोंमें हाथियोंको निवास देताहुआ गमन करै, यदि अच्छा जल न मिले तो गरमीके अधिक तापसे हाथियोंको कुष्ठ होजाते हैं ॥ ७ ॥

स्वस्थक्रियाणामपि कुञ्जराणामुष्मा शरीरेष्वभिजाज्वलीति ।
आयासयोगेन हि सम्प्रवृद्धः प्रसह्य हन्ति द्विरदान्प्रतापः ॥ ८ ॥

स्वस्थदशामें भी हाथियोंके शरीरमें गरमी प्रज्वालित रहती है, और परिश्रम करनेसे तो वह धूपकी गरमीके बढनेसे बलसे हाथियोंको नष्ट करती है ॥ ८ ॥

सर्वाणि सत्त्वानि खलूष्मकाले विनाम्बुना यान्तिपरामवस्थाम् ।
अन्धत्वमुष्णप्रवितप्तकायाःप्रयान्ति सद्यःकरिणोऽपिबन्तः॥९॥

सबही जीव गरमीके दिनोंमें विनाजलके पराभव होतेहैं और हाथियों को जल न मिले तो गरमीसे तप्तशरीर होनेसे अन्धे होजातेहैं ॥ ९ ॥

सुगन्धिदानच्युतशीकरेषु दन्ताभिघातस्फुटितोपलेषु ।
गजेषु नीलाभ्रसमप्रभेषु राज्यं निबद्धं पृथिवीपतीनाम् ॥१०॥

सुगन्धियुक्त मदके चुआने तथा जलको उछालने, दांतोंके ताडनसे पाषाण विदीर्ण करनेवाले, नीले मेघकी समान प्रभावाले हाथियोंमें राजाका राज्य बँधाहुआ है ॥ १० ॥

सुकल्पितः संयुगदृष्टमार्गः स्वधिष्ठितो धीरतरेण पुंसा ।
तुरङ्गमानां परिकल्पितानामेको गजःषष्टिशतानि हन्ति॥११॥

अच्छीप्रकारसे शिक्षित संग्रामस्थलको देखेहुए, धैर्यवान् पुरुषसे अधिष्ठित एक हाथीही युद्धमें छः सौ शिक्षित घोडोंके मारनेमें समर्थ होताहै ॥ ११ ॥

जले स्थले च द्रुमसङ्कटे च साधारणे वा विषमे समेऽपि ।
प्राकारहर्म्याद्रिविदारणे च ध्रुवं जयो नागवतां बलानाम्॥१२॥

जल, स्थल, वृक्षोंके संकटमें, साधारण, विषम वा समस्थानमें तथा परिखा महल पर्वतके विदारणमें हाथियोंकी सेनासेही जय होतीहै ॥१२॥

तस्माद्यतो भूरिजलस्तु पन्था वनोदपानोपचितो विशङ्कः।
तेनाभियायाज्जनयन्प्रतापं शनैः शनैरश्रमयन्बलानि ॥ १३ ॥

इसकारण जिस मार्गमें अधिक जलहो तथा घने अन्नपानादिसे युक्त और शंका रहित हो उसी मार्गसे होकर अपने प्रताप प्रगट करता हुआ और सेनाको विश्राम देता हुआ शनैः शनैः गमन करै ॥ १३ ॥

अभ्युन्नतानामणुरप्युदारं पश्चात्प्रकोपं जनयेदरीणाम् ।
तश्चाप्रमत्तः प्रसमीक्ष्य यायान्न नाशयेद्दृष्टमदृष्टहेतोः ॥ १४ ॥

उन्नत हुए शत्रुपर स्वयं लघु राजा होकर भी विशेष क्रोध प्रगट करे, और सावधान होकर उस शत्रुपर गमन करै उसकी चालढालको परखै और अदृष्ट पदार्थ [जो वस्तु अदृष्टके आधीनहै] के निमित्त दृष्टपदार्थका नाश न करै ॥ १४ ॥

पश्चात्प्रकोपः पुरतः फलञ्च पश्चात्प्रकोपश्च तयोर्गरीयान् ।
रन्ध्रंहि तद्विप्रकृता महत्त्वं नयन्ति तस्मात्प्रसमीक्ष्य यायात् १५

पीछे कोप पहले फल इन दोनोंमें पीछे कोप करनाही श्रेष्ठ है, शत्रुके अपकारमें छिद्रही बड़ी वस्तुहै इसकारण उस छिद्रको देखकरही चलै १५॥

पुरश्च पश्चाच्च यदा समर्थस्तदाभियायान्महते फलाय ।
पुनः प्रसर्पन्नविशुद्धपृष्ठः प्राप्नोति तीव्रं खलु पार्ष्णिभेदम् ॥ १६ ॥

जब आगे और पीछेसे समर्थ और रक्षित हो तब विजयरूपी महाफलकी इच्छासे गमन करै और पृष्ठभागकी शुद्धि विना गमन करनेसे उस पृष्ठभागके बडे भारी भेदको प्राप्त होताहै ॥ १६ ॥

यास्यन्परो रक्ष्यमनेकवर्गमनेकमुख्यञ्च बलं निदध्यात् ।
अनेकमुख्यस्य हि चैकमत्यमनेकमत्यं द्विषतामभेद्यम् ॥ १७॥

जब गमन करे तो आगे भी अपने अनेक रक्षकवर्गोको नियुक्त करै, और पीछे भी अनेक मुख्यसैनिकोंको स्थापनकरै,अनेक मुख्योंकी एक मति जयके निमित्त होती है और उन एकमतिवालोंको अनेक मतिवाला शत्रु भेदित नहीं करसता ॥ १७ ॥

अवश्ययातव्यतयोद्यतः सन्पश्चात्प्रकोपाहितया न शङ्का ।
सेनापतिश्चाप्यथवा कुमारं बलैकदेशेन पुरो निदध्यात् ॥ १८॥

अवश्य चढाईके निमित्त उद्यत हुएको पीछे क्रोधसे अहितकी शंका

न करनी, अपने सेनापति वा कुमारको सेनाके एक देशमें आगे स्थापन करै ॥ १८ ॥

आभ्यन्तराद्बाह्यकृताच्च दोषादाभ्यन्तरस्त्वेव तयोर्गरीयान् ।
आदाय गच्छेदबहिःप्रचारान्बाह्यांश्चकृत्वाविहितानुकल्पान् १९

आभ्यन्तर (भीतरी) और बाह्य यह दो प्रकारके दोष हैं इनमें भीतरी दोषही बडा है, इसको दूरकर और इन कोपवालोंको संग लेकरही बाहर चढाईको चलै और बाह्यदोषको भी यथायोग्य विचारसे शोधै ॥ १९ ॥

पुरोहितामात्यकुमारकुल्याः सेनाभिगोप्तार इमे प्रधानाः ।
एषां हि मन्त्रोद्यतमप्रकोपमन्तःप्रकोपं समुपादिशन्ति॥ २० ॥

पुरोहित, मन्त्री, कुमार, कुटुम्बी यह सेनाके रक्षक प्रधान जन हैं, सम्मतिमें इनका कोप न होना चाहिये, इन्हीके क्रोधको अन्तःप्रकोप (भीतरी) क्रोध कहते हैं ॥ २० ॥

राष्ट्रान्तपालाटविकाभिसीम्नां बाह्यप्रकोपोऽन्यतमः प्रकोपः ।
उत्पद्यमानो निपुणप्रचारैस्तम्मन्त्रिभिः सम्यगुपाददीत॥ २१ ॥

राज्यकी सीमाके पालन करनेवाले तथा आरण्यरक्षक, सीमारक्षक, आदिका कोप बाह्यक्रोध कहाता है, इसको भी निपुण दूत और अच्छे मन्त्रियोंसे दूर करावै ॥ २१ ॥

सामादिभिः संशमयेत्प्रकोपं परस्परावग्रहभेदनैश्च ।
तथापि धीरः शमयेत्प्रकोपं यथा भजेरन्न परान्प्रतप्ताः ॥ २२ ॥

परस्पर क्लेश भेदसे जो कलेश हुआ हो उसको सामादि उपायोंसे शान्त करै और बुद्धिमान् उनके क्रोधको इसप्रकारसे शान्त करै जिससे दुखी हो शत्रुओंसे न मिलजायँ ॥ २२ ॥

मनुष्ययुग्यापचयक्षयो हि हिरण्यधान्यापचयव्ययस्तु ।
तस्मादिमान्नैव विदग्धबुद्धिः क्षयव्ययायासकरीमुपेयात्॥ २३ ॥

मनुष्य और पशुआदिका ह्रास क्षय कहाता है सुवर्णादिका नाश व्यय कहाता है, जिसमें दोनों प्रकारका क्षय और व्यय होता दीखै अर्थात् जिस युद्धमें प्राणियोंका विशेष संहार और द्रव्यका विशेष व्ययहो राजाको वह कार्य न करना चाहिये राजाको उचित है कि, उस कार्यको रोकदे॥२३॥

अवश्यनिष्पत्तिमहाफलाढ्यामदीर्घसूत्रां परिणामकल्पान् ।
कामं व्ययायासकरीमुपेयान्न त्वेव जातु क्षयदोषयुक्ताम्॥२४॥

परिणाम अर्थात् कार्यके अन्तिम फलके भलीभाँति देखनेवाले आलस्य हीन पुरुषोंको इन वस्तुओंकी प्राप्ति महाफलके निमित्त होती है इनका व्यय तो होताही है पर क्षयदोष युक्त इनका व्यय न करे, जिस व्ययसे कुछभी लाभ न हो वह क्षय दोषयुक्त है ॥ २४ ॥

वस्तुष्वशक्येषु समुद्यमश्चेच्छक्येषु मोहादसमुद्यमश्च ।
शक्येषु कालेन समुद्यमश्च त्रिधैव कार्यव्यसनं वदन्ति ॥२५॥

कार्यके भी तीन प्रकारके व्यसन होते हैं, अशक्य वस्तुकी प्राप्तिका उद्यम करना और प्राप्त होनेयोग्य वस्तुका मोहसे उद्यम न करना और शक्य वस्तुमें काल करके उद्यम करना ॥ २५ ॥

कामोऽक्षमा दक्षिणतानुकम्पा ह्रीः साध्वसंक्रौर्यमनार्यता च ।
दम्भोऽभिमानोऽप्यतिधार्मिकत्वं दैन्यं स्वयूथस्य विमाननञ्च२६

काम, अक्षमा, चतुराई, दया, लज्जा, क्रोध, क्रूरता, अनार्य्यता, दंभ (पाखण्ड) अहंकार, अतिधार्मिकता, दीनता अपने यूथका तिरस्कार२६॥

द्रोहो भयं शश्वदुपेक्षणञ्च शीतोष्णवर्षाप्रसहिष्णुता च ।
एतानि काले समुपाहितानि कुर्वन्त्यवश्यं खलु सिद्धिविघ्नम्२७

द्रोह, भय, निरन्तर उपेक्षा करना, शीत, गर्मी, वर्षा इनका अत्यन्त सहना यह समयपर प्राप्त हुई कार्यसिद्धिमें अवश्य विघ्न करते हैं ॥२७॥

निजोऽथ मैत्रश्च समाश्रितश्च सम्बन्धजः कार्यसमुद्भवश्च ।

भूतो गृहीतो विविधोपचारैः पक्षं बुधाः सप्तविधं वदन्ति॥ २८॥

अपना, मित्रका, समान आश्रयवालेका, सम्बन्धवालेका, कार्यकी प्राप्तिसे हुआ, तथा व्यतीत हुआ और अनेक उपचारोंसे ग्रह किया हुआ ऐसा सात प्रकारका पक्ष पंडितजन कहते हैं ॥ २८ ॥

सदानुवृत्त्या गुणकीर्त्तनेन निन्दासहत्वेन च रन्ध्रगुह्या ।
तदर्थशौर्योद्यमसत्कथाभिःपक्षोऽनुरागी स हि वेदितव्यः॥ २९॥

सदा अपने अनुकूल रहनेवाला, गुणकीर्तन करनेवाला, निन्दाको न सहनेवाला, रहस्यको छिपानेवाला और अपने मित्रके निमित्त सत्कथायुक्त रहनेवाला, शूरता और उद्यमवाला अनुरागी अर्थात् अपना हितैषी पक्षजानना चाहिये ॥ २९ ॥

कुलीनमार्यं श्रुतवद्विनीतं मानोन्नतं सभ्यमहार्यबुद्धिम् ।
कृतज्ञतोर्जामतिसत्त्वयुक्तं सद्वृत्तपक्षं खलु तञ्च विद्यात् ॥ ३०॥

कुलीन, आर्य्य, शास्त्रसम्पन्न, विनीत, मानसे उन्नत, सभ्य, स्थिरबुद्धि कृतज्ञ, अतिबलसम्पन्न पक्षको जाने कि, यह हमारा सदाचरणी पक्षहै॥ ३०॥

उद्योगमेधाधृतिसत्त्वसत्यत्यागानुरागस्थितिगौरवाणि ।
जितेन्द्रियत्वंप्रसहिष्णुताह्रीःप्रागल्भ्यमित्यात्मगुणान्वदन्ति ३१

उद्योग, विचार, शील, बुद्धि, धारणा, सत्व, सत्य, त्याग, अनुराग, स्थिति, गौरव, जितेन्द्रियता, सहनशीलता, लज्जा और प्रगल्भता यह अपने आत्माके गुण हैं ॥ ३१ ॥

मन्त्रस्य शक्तिं सुनयोपचारं सुकोषदण्डौ प्रभुशक्तिमाहुः ।
उत्साहशक्तिं बलवद्विचेष्टां त्रिशक्तियुक्तो भवतीह जेता॥ ३२॥

मंत्रकी शक्ति, सुनीतिका उपचार, सम्यक्प्रकारके कोष दण्ड यह प्रभुशक्ति कहाती है, इसमें चेष्टा करानेमें उत्साहशक्ति विशेष बल सम्पन्नहै, तीनों शक्तियुक्तही जयशीलता होतीहै ॥ ३२ ॥

शैघ्र्यं सुदाक्ष्यं व्यसनेष्वदैन्यमुत्साहसम्पत्स्वतिधीरता च ।
आत्यन्तिकी शास्त्रसमुद्भवा च सांसर्गिकी धीःपरिणामिनी च ३३

शीघ्रकारिता, अच्छी चतुराई, व्यसनोंमें दीनता न होनी, उत्साह सम्पत्तिकी प्राप्तिमें अतिधीरता, अत्यन्त शास्त्रानुसारिणी, संसर्गसे प्रगट होनेवाली, तथा परिणामवाली बुद्धि ॥ ३३ ॥

उत्साहसत्त्वाध्यवसायचेष्टा दार्ढ्यं च कर्मस्वतिपौरुषञ्च ।
अरोगता कर्मफलोपपत्तिर्दैवानुकूल्यं हि निराधिता च ॥ ३४॥

उत्साह, सत्य, अध्यवसाय (कार्यका उद्योग)की चेष्टा, दृढता कर्ममें अतिपुरुषार्थ, अरोगता, कर्मफलकी प्राप्ति, देवानुकूलता, निराधिता,हृदयकी व्यथासे रहित होना ॥ ३४ ॥

पक्षादिदानेन गृहीतकोषः पक्षादिहीनं रिपुमभ्युपेयात् ।
इति प्रसर्पन्नियतं समुद्रप्रक्षालितां तां लभते धरित्रीम् ॥ ३५॥

पक्षादिके दानसे कोष ग्रहण किये हुए, पक्षादिकी सम्पत्तिसे हीन शत्रु- पर चढाई करे, इसप्रकारसे नियमपूर्वक गमन करता हुआ समुद्रपर्यन्त प्रक्षालित कीहुई पृथिवीको प्राप्त होताहै ॥ ३५ ॥

कालो गजानां सजलाभ्रजालो यातुं तदन्यश्च तुरङ्गमानाम् ।
नात्युष्णवर्षोष्णतुषारयुक्तः संपन्नशस्यास्त्विवति कालसम्पत् ३६

जिस समय आकाशमें मेघसमूह सजल हों, वह समय हाथियोंके चल- नेका है इससे दूसरा घोडोंके गमनका है, जिस समय गरमी वर्षा तुषार विशेष न हो और खेती धान्यसम्पन्नहो, यह कालकी सम्पत्ति कहीहै ३६॥

रात्रावुलूको विनिहन्ति काकं काकोऽप्युलूकं रजनीव्यपाये ।
इति स्म कालं प्रसमीक्ष्य यायात् काले भवन्तीह समीहितानि ३७

रात्रिमें उलूक कौओंको मारताहै, और रात्रिके व्यतीत होनेमें काक

उलूकको मारतेहैं इसप्रकार समयको देखकर ही चढाई करै, समयमेंही मनोरथ सफल होतेहैं ॥ ३७ ॥

श्वा नक्रमाकर्षति कूलसंस्थं श्वानञ्च नक्रः सलिलाभ्युपेतम् ।
व्यायच्छमानो ध्रुवमभ्युपैति देशस्थितः कर्मबलोपभोगम् ३८॥

किनारेपर स्थित होनेसे श्वान नाकेको खैंचलेताहै और जलमें नाका श्वानको खैंचलेताहै, जो देशकालमें स्थितहै वह अवश्यही कर्म और बलके उपभोगको प्राप्त होताहै ॥ ३८ ॥

समं तुरङ्गैर्विषमं च नागैस्तथा जलाढ्यं स महीधरं च ।
नागावृतं पक्षबलानुपेतैर्यथाबलञ्च प्रसमीक्ष्य मिश्रम् ॥ ३९॥

घोडोंसे समस्थान, हाथियोंसे विषमस्थान, तथा सजल और पर्वतोंके स्थान गाहेजाते हैं इसकारण हाथी और अपने पक्षबलसे मिश्रित होकर यथा बल देखभाल करके ॥ ३९ ॥

मरुप्रगाढं पतति स्म तोये ग्रीष्मेऽप्यनूपोदककक्षदुर्गम् ।
मिश्रञ्च संवीक्ष्ययथासुखञ्च गच्छेन्नरेन्द्रोविजयाय देशम्४०॥

मरुदेशमें जलगिरनेके समयमें, अनूपदेश, जलवालेदेश कक्षदेश, दुर्ग इनपर गरमियेंमें गमन करे और मिश्रदेश देख जिसमें अपनी अनुकूलताहो उसीप्रकार देशपर विजय करनेको गमन करै ॥ ४० ॥

न चातितोयं न च तोयहीनं युक्तं च सम्यग्यवसेन्धनेन ।
उपेत्य मार्गं बहुतक्षयुक्तः सुखप्रयाणैरिपुमभ्युपेयात् ॥ ४१ ॥

जिसमें न बहुत जलहो न कि अत्यन्त जलसे हीन हो धान्य और काष्ठसे संयुक्तमार्गमें बहुतसे बढई आदि वृक्षकाटनेवाले लोग साथ लिये (सफर-मेनाकी पलटन) संयुक्त शत्रुपर चढाई करै, जिस मार्गमें गमन करनेसे सुख मिले उसी मार्गको गमन करै ॥ ४१ ॥

सुवीवधासारमुपेततोयं विश्वासिभिः कान्तजलं विशुद्धम् ।
तन्मात्रमेव द्विषतामुपेयाद्यस्मान्न कुर्यादपयानमार्तः ॥ ४२ ॥

भार ढोनेको बहँगी भुसई धन धान्य सहित जलके समीप उपस्थित होकर उस जलको विश्वासी पुरुषोंके द्वारा शुद्धकरा देखै, इसप्रकारसे शत्रुके प्रति गमनकरे जिससे कि, मार्गमें व्याकुलता प्राप्त नहो आर्त न होजाय ४२ ॥

ये दूरयात्रां सहसा विशन्ति मूढा रिपूणामविचार्य भूमिम् ।
ते यान्ति तेषामचिरेण खड्गधारापरिष्वङ्गमयत्नसाध्याः ॥ ४३ ॥

जो मूर्ख शत्रुकी भूमिको विना विचारे सहसा दूर यात्रामें प्रवेश कर जाते हैं, वे शीघ्रही अयत्नसाध्य शत्रुकी खड्गधाराको प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

मार्गे च दुर्गे विनिविष्टसैन्यो विधाय रक्षां विधिवद्विधिज्ञः ।
सन्नद्धपार्श्वस्थितवीरयोधःसेवेतसाध्वीं सुखयोगनिद्राम् ॥ ४४ ॥

मार्ग और दुर्गमें सेना रखकर, विधिपूर्वक विधिका जाननेवाला रक्षा करके पार्श्वभागको दृढ किये वीर योधाओंको साथ लिये श्रेष्ठ सुखवाली योगनिद्राको सेवन करै जैसे योगी क्षणमें जागजाता है, इसप्रकार क्षणमें दूरहोनेवाली निद्राका सेवन करै ॥ ४४ ॥

भ्रमत्तुरङ्गद्विरदेन्द्रहेषां घण्टास्वनासादितकर्णरन्ध्रः ।
तदन्तरा च प्रतियोधवृत्तां के जाग्रतीत्यादरमाद्रियेत ॥ ४५ ॥

भौंरे घोडे हाथियोंके शब्द करने तथा घंटेके शब्द कानोंमें आनेसे उस समय योधाओंके प्रति जो जागते हैं, उनको आदर सन्मान करना चाहिये ॥ ४५ ॥

ततः प्रबुद्धः शुचिरिष्टदेवः श्रीमद्विभूषोज्वलितः प्रहृष्टः ।
सेव्येत मन्त्रिप्रवरैर्यथावत्पुरोहितामात्यसुहृद्गणैश्च ॥ ४६ ॥

उसी समय आपभी उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नानकर इष्टदेवका पूजन स्मरणकर भूषणोंका धारण कर श्रीसम्पन्न प्रसन्नमुख, मंत्रिश्रेष्ठ पुरोहित, अमात्य सुहृद्गणोंसे वेष्टित हो ॥ ४६ ॥

कर्त्तव्यतां तैः सह संविचार्य यानं समास्थाय विचित्रयानः ।
कुलोद्गतैःशस्त्रिभिरिष्टतुल्यैर्बहिर्न्निरीयात्परिवारितःसन् ॥ ४७॥

उनके सहित कर्तव्यताका विचारकर विचित्र गतिवाले यानमें सवार हो कुलपरंपरासे प्राप्त अपने इष्ट शस्त्रधारियोंके साथ बाहर निकलै॥ ४७॥

पश्येन्नृपो हस्तिरथाश्वचर्यां सामूहिकं योधगणं पृथक् च ।
विवक्षितांश्च द्विरदेन्द्रमुख्यांस्तुरङ्गमांश्चापि विधानयुक्तान् ४८॥

और हाथी रथ घोडोंकी परिचर्य्या तथा योधाओंके समूहोंको पृथक् २ देखे, तथा अपने विवक्षित मुख्य गजराज और विधानयुक्त घोडोंकाभी निरीक्षण करै ॥ ४८ ॥

सुखोपगम्यः स्मितपूर्वभाषी प्रियं वदेद्वृत्त्यधिकं च दद्यात् ।
प्रियेण दानेन च सङ्गृहीतास्त्यजन्ति भर्त्तर्यपिजीवितानि॥ ४९॥

उस समय राजाकी ऐसी वृत्ति हो कि जानेवाले सुखसे राजाके समीप पहुँचसकैं मुसकाते हुए वचन बोलै प्रियवचन बोलै वृत्ति अधिकदे, प्रियदानसे संगृहीत हुए सेवक राजाके निमित्त प्राणभी त्यागन कर देते हैं४९

रथाश्वनौकुञ्जरयानयोग्यो नित्यक्रियः स्याद्धनुषि प्रगल्भः ।
सुमेधसां कर्मणि दुष्करेऽपि नित्यक्रिया कौशलमादधाति५०॥

रथ घोडे हाथीकी सवारीकी योग्यतामें नित्य तत्पर प्रगल्भतासे धनुष विद्याका नित्य अभ्यास करै । कारण कि, नित्यका अभ्यास बुद्धिमानोंको दुष्करकर्म करनेमें भी कुशल करदेता है ॥ ५० ॥

सन्नद्धमुच्चैर्द्विपमास्थितः सन्सन्नद्धसैन्यानुगतोऽविकुर्वन् ।
सामन्तदूतेन हि साधुमन्त्रः प्रवीरयोधान्तरितेन यायात्॥ ५१॥

स्वयं तयार होकर ऊँचे हाथीपर चढाहुआ, तयारसेनासे सेवितहुआ, विकारे रहित, अच्छे मन्त्रसम्पन्न सामन्त और दूतोंको साथ लिये बडे वीर योधाओंके साथ गमन करै ॥ ५१ ॥

आलोकयेद्बुद्धिगुणोपपन्नैश्चरैश्च दान्तैश्च परापचारम् ।
एतैर्विमुक्तो भवति क्षितीन्द्रो जनैरनेत्रैश्च समानधर्म्मा ॥५२॥

बुद्धिके गुणोंसे युक्त चतुर दूतोंके द्वारा शत्रुओंका अपचार (छिद्र) देखै, यदि राजा ऐसे दूतोंसे रहित हो तो अन्धे मनुष्यके समान होताहै॥५२॥

विलोभयन्किञ्चिदपि प्रयच्छन्कुर्वीत मित्रं द्विषतो न पानम् ।
राष्ट्रादभीक्ष्णं द्विषतःप्रपण्यं पण्यैर्हितन्नालिकयाऽऽददीत॥५३॥

लोभ देकर, कुछ पहले देकर, शत्रुकी तरफवालोंको अपनावे, परन्तु उनके साथ खानपानादि न करै और शत्रुके राज्यसे बिकनेवाले सब नालिक [तोप बन्दूक] शस्त्रोंको खरीदले ॥ ५३ ॥

उपक्रमं वाञ्छितमाशु कुर्याद्दूतोपयानात् क्रियमाणसन्धिः ।
स चेद्विसन्धिर्न हि तत्र भेदःकृतो भवत्यात्मसमुच्छ्रयश्च॥५४॥

शीघ्रही अपने वांछित उपक्रमको करै, सन्धिकी इच्छा करताहुआ उसके समीप दूत भेजै, और उसके द्वारा कार्यसाधन करावै, यदि वह सन्धिमें न आवै तो उसमें अपने कल्याण और उन्नतिके निमित्त भेद करै ॥ ५४॥

दौर्गान्पथिष्वाटविकान्तपालान् संश्लेषयेद्दानवता च साम्ना ।
विरुद्धदेशेषु हि तन्निरोधे ते चाऽस्यमार्गोपदिशो भवन्ति॥५५॥

दुर्गमें रहनेवाले मार्ग और जंगलकी रक्षावाले इनको दान और साम वचनोंसे अपनी ओर मिलाले, यदि विरुद्धदेश और निरोध (रोक) हो जाय तो यही लोग इस राजाको मार्ग दिखनेवाले होतेहैं ॥ ५५ ॥

अकारणादेव हि कारणाद्वा य एव कश्चित्पुरुषोऽरिसेवी ।
निजश्चविश्लिष्टउपेतशस्त्र आयाति यस्तस्य गतिं प्रपश्येत्॥५६॥

अकारण या किसीकारणसे जो पुरुष शत्रुकी सेवा करनेवालाहै, और वह शस्त्रलिये हुए यदि अपनी ओर आ मिले तो उसकी चालपर विशेष ध्यान देनाचाहिये ॥ ५६ ॥

आरिप्सुना मन्त्रबलान्वितेन प्रागेव कार्यो निपुणं विचारः ।
दोष्णां बलान्मन्त्रबलं गरीयःशक्रोऽसुरान्मन्त्रबलाद्विजिग्ये५७

शत्रुके जीतनेकी इच्छा करनेवाले मंत्रबलसे सम्पन्न राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये कि इन्द्रने मंत्रके बलसेही शत्रुओंको जीता है॥५७॥

मनीषया निर्मलया विलोकितं फलाय कर्मोद्यममास्थितःपरम् ।
अकालहीनं नयवित्समाचरेत्फलं ह्यकाले नियतं व्युदस्यति५८

निर्मलबुद्धिसे देखेहुए फलके लिये कर्मके उद्यममें स्थितहुआ नीतिमान अकालमें कार्य न करे कारण कि, अकालमें अवश्यही फल नष्ट होताहै॥५८॥

प्रभावितानां श्रुतशौर्यशालिनां यथावदालोकितमार्गचारिणाम् ।
निकामदैवी द्युतिरुन्नतात्मनां भुजङ्गदीर्घेषु भुजेषुलम्बते॥५९॥

प्रभावसंयुक्त शास्त्रशीलसम्पन्न यथावत् दूतोंका मार्ग देखनेवाले कान्तिसे दीप्तिमान् आत्मावालोंकी सर्पके समान दीर्घ भुजाओंमें अत्यन्त दैवीकान्ति प्राप्त होतीहै ॥ ५९ ॥

समुदितनरसम्पद्भूरिसम्पन्नसस्ये
विगतसलिलपङ्के काल उद्युक्तवृत्तिः ।
कुसुमितसहकारश्रीज्वलत्कानने वा
नरपतिरारिभूमिं साधु गच्छेज्जयाय ॥ ६० ॥

जिससमय मनुष्यगण सम्पत्तिसम्पन्नहों, खेतोंमें धान्यकी अधिकाई हो, जल और कीचरहित होनेसे मार्ग स्वच्छहों आम मौरारहे हों, वनोंमें शोभा होरही हो, उससमय राजा उस शत्रुकी भूमिमें जयके निमित्त गमन करै६०

इति नरपतिराहितादरः सन्परमभियोक्तुमनाः समुत्पतेत ।
इति हतविषयोपसेवमानो नियतमरातिरुपैति गोचरं स्वम् ६१॥

इति श्रीका०नी०यात्राभियोगदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः१५

इसप्रकार सेनादि आदरको प्राप्तहुआ राजा शत्रुपर जीतनेकी इच्छासे चढाईकरै, और विषयोंसे रहितहुआ मंत्रियोंसे सेवित अवश्यही शत्रुको आधीन होकर सन्मुख हुआ देखताहै ॥ ६१ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां यात्राभियोगदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः १६.

यायाद्वैरिपुराभ्याशं भूभागे साधुसम्मते ।
स्कन्धावारनिवेशज्ञः स्कन्धावारं निवेशयेत् ॥ १ ॥

इसप्रकार साधुजनसम्मत शत्रुके पुरके समीपकी भूमिमें प्राप्तहोकर छावनीके स्थान जाननेवाला वहां अपनी छावनी डालै ॥ १ ॥

चतुरस्रं चतुर्द्वारं नातिविस्तारसङ्कटम् ।
महाप्रतोलीप्राकारं महापरिखया वृतम् ॥ २ ॥

चौकोन और अच्छे चार द्वार जिसमें न बहुत विस्तारहो न बहुत घनिष्ठताहो बडी गली चारोंओरकी चार दिवाली, और महापरिखासे संयुक्त ॥ २ ॥

शृङ्गाटमर्द्धचन्द्रं वा मण्डलं दीर्घमेव च ।
भूमिप्रदेशसामर्थ्यादागारमुपकल्पयेत् ॥ ३ ॥

शिंघाडेकी समान वा अर्धचन्द्राकार वा मण्डलाकार दीर्घ भूमि और देशकी सामर्थ्यसे स्थानकी कल्पना करै ॥ ३ ॥

विविक्तैश्च विभक्तैश्च शृङ्गैरन्वितमायतैः ।
गुप्तकक्षं पटाकारैर्महामार्गसमावृतम् ॥ ४ ॥

एकान्त तथा विभागको प्राप्त ऊँचे २ कँगूरोंसे युक्त गुप्त कक्षावाला, पटाकार महामार्गोंसे विराजमान ॥ ४ ॥

तस्य मध्ये मनोह्लादि महामौलबलावृतम्।
अन्तःकोषगृहोपेतं कारयेद्राजमन्दिरम् ॥ ५ ॥

उसके मध्यमें मनको हरण करनेवाले पुस्तैनी महामन्त्रियोंसे सम्पन्न और भीतरी कोषग्रहसे संयुक्त राजमन्दिर बनवावै ॥ ५ ॥

मौलभुक्तं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम्।
राजहर्म्यं समाहृत्य क्रमेण विनिवेशयेत् ॥ ६ ॥

पुस्तौनी नौकरोंसे व्याप्त सुहृदोंकी अधिकाईसे शोभित १२ प्रकारके अटवियों (जंगलके रहने वालों) को संग्रह करके राजमहलके समीप आदरके साथ इनको प्रवेश करावै ॥ ६ ॥

अन्ते चागणितान्क्रूराँल्लुब्धकान्दुष्टकर्मणः।
पर्याप्तवेतनान्स्वाप्तान्मण्डलेन निवेशयेत् ॥ ७ ॥

और उसके समीपमें अगणित क्रूर लुब्धक दुष्कर्मा व्याधोंको परीक्षा करके कि यह सत्यवादी हैं, अच्छी वृत्ति देकर मण्डलमें स्थित करै॥७॥

हस्तिनो लब्धनामानस्तुरङ्गास्तु मनोजवाः।
गृहोपकण्ठे नृपतेर्वसेयुः स्वाप्तरक्षिताः ॥ ८ ॥

अच्छेपुरुषोंसे रक्षित हुए मान पाये हुए हाथी, और मनके समान वेगवान् घोडे राजाके मन्दिरके समीप निवास करैं ॥ ८ ॥

यामवृत्त्या सुसन्नद्धं रात्रिन्दिवमुदायुधम्।
अन्तर्वंशिकसैन्यञ्च तिष्ठेद्राजाऽभिगुप्तये ॥ ९ ॥

पहर पहरभरकी नौकरी लगाकर रात दिन अस्त्र शस्त्र ग्रहण किये हुए भीतरीसेनाके लोग सेनाके मध्यमें सेना और राजाकी रक्षा करैं ॥९॥

युद्धयोग्यो महादन्ती सन्नद्धः साध्वधिष्ठितः।
तिष्ठेन्नरपतेर्द्वारि वेगवांश्च तुरङ्गमः ॥ १० ॥

युद्धके योग्य महागजराज कसाहुआ स्थितरहै, और एक वेगवान् घोड़ा प्रतिक्षण कसकसाया खडा रहै [यहभी बारी २ से लाये जांय] तीन घंटेके पीछे दूसरा घोडा इसीप्रकारसे आते जाते रहैं ॥ १० ॥

सैन्यैकदेशः सन्नद्धः सेनापतिपुरःसरः ।
प्रयत्नवान्परिपतेन्मण्डलेन बहिर्न्निशि ॥ ११ ॥

और सेनापतिके सहित सेनाका कुछ भाग भी तयार रहै, वह रात्रिके समय यत्नपूर्वक मण्डलसे बाहर आवै ॥ ११ ॥

परसैन्यप्रचारश्च सन्नद्धाः शीघ्रपातिनः ।
वाताश्विका विजानीयुर्दूरसीमान्तपातिनः ॥ १२ ॥

शत्रुकी सेनाका पता लगानेके निमित्त अस्त्रशस्त्र बांधकर तयारहुए शीघ्रगामी पवनके द्वारा लक्ष्य जाननेवाले सेनाके लोग दूर सीमापर रहनेवाले राजाकी सेनाके पडावको जानकर उसपर आक्रमण करै ॥ १२ ॥

तोरणाबद्धमाल्येषु यन्त्रवत्सु पताकिषु ।
द्वारेषु परमां गुप्तिं कारयेदाप्तकारिभिः ॥ १३ ॥

तोरणमें माला बँधे यन्त्र और पताकासम्पन्न द्वारोंमें आप्त पुरुषोंद्वारा रक्षाका प्रबन्ध करै ॥ १३ ॥

निर्गच्छेच्च विशेच्चापि सर्व एवोपलक्षितः ।
तिष्ठेयुः परदूताश्च राजशासनगोचराः ॥ १४ ॥

सबसे देखाहुआ उस द्वारसे निकले और उसमें प्रवेश करै, और राजशासनके जाननेवाले उस स्थानपर (श्रेष्ठ) दूत स्थित रहैं ॥ १४ ॥

वृथाकोलाहलाद्धास्याद्द्यूतात्पानाच्च वारितः ।
सज्जोपकरणस्तिष्ठेत्सर्वकार्योन्मुखो जनः ॥ १५ ॥

वृथा कोलाहल न होनेदे द्यूत और पानका सर्वथा निषेध करै, और सब कार्यके करनेमें तत्पर पुरुष सज्ज हुएही स्थित रहैं ॥ १५ ॥

बहिःखातात्स्वसैन्यानां मुक्त्वा सञ्चारमायतम् ।
परसैन्यविनाशार्थं सर्वां भूमिं विनाशयेत् ॥ १६ ॥

खाईसे बाहर अपनी सेनाके सञ्चारका बड़ा मार्ग छोडकर शत्रुसेनाके नाश करनेके निमित्त शेष वहांकी सब भूमिको नष्ट भ्रष्ट करदे, अर्थात् ऊँची नीची खाई खन्दक और कांटोंसे सम्पन्न करदे ॥ १६ ॥

क्वचित्कण्टकशाखाभिः क्वचित्कीलैरयोमुखैः ।
भूषयेत्परितो भूमिं प्रच्छदप्रवरैरपि ॥ १७ ॥

कहीं उसमें कांटोंके वृक्ष लगादे, कहीं वहां लोहेके गोखरू बिछवादे, और उसको चारोंओरसे किसी वस्तुसे ढककर भूषित रक्खे जिससे इस-भेदको कोई नजाने ॥ १७ ॥

निर्वृक्षक्षुपपाषाणस्थाणुवल्मीकनिर्द्रवैः ।
कारयेत्कारणैश्चित्रैः सैन्यव्यायाममन्वहम् ॥ १८ ॥

वृक्ष, छोटी २ झाडिये बेलबूँटे पाषाण (पत्थर) ठूंठ तलैया बँवई आदिसे रहित समान चित्रभूमि प्रतिदिन सेनाकी कवायद करनेके लिये भूषित करै ॥ १८ ॥

यस्मिन्देशे यथाकामं सैन्यव्यायामभूमयः ।
परस्य विपरीताश्च स्मृतो देशः स उत्तमः ॥ १९ ॥

जिस देशमें यथायोग्य सेनाके कवायदकी भूमियें होती हैं, और शत्रुकी यहां यह भूमि न हो वही देश उत्तमहै ॥ १९ ॥

आत्मनश्च परेषां च तुल्या व्यायामभूमयः ।
सुमध्यमः स उद्दिष्टो देशः शास्त्रार्थचिन्तकैः ॥२०॥

जहां अपनी सेनाकी और शत्रुसेनाकी भी कवायदकी भूमियें होती हैं वह शास्त्रके ज्ञाताओंने मध्यमदेश कहाहै ॥ २० ॥

अरातिसैन्यव्यायामसुपर्याप्तमहीतलः ।

आत्मनो विपरीतश्च यः स देशोऽधमःस्मृतः ॥२१॥

जहां शत्रुकी सेनाकी कवायदकी भूमि है और अपनी नहीं है वह देश अधम है ॥ २१ ॥

नित्यमुत्तममाकाङ्क्षेत्तदभावे तु मध्यमम् ।
अधमं बन्धनागारं नोपासेवेत सिद्धये ॥ २२ ॥

नित्य उत्तम देशकी इच्छाकरै,यदि ऐसा न हो तो मध्यमदेशकी इच्छा करै अधम देश बन्धनागारके समानहै उसे सिद्धिके लिये सेवन न करै २२॥

आक्रान्त इव केनापि रोगानीकैरनुद्रुतः ।
अकस्मादुद्भवद्द्वेषो राजनीहारसंवृतः ॥ २३ ॥

अब जयादि लक्षण कहतेहैं जैसे किसीने आक्रमण कियाहो ऐसा जान-पडे, अकस्मात् सेना रोगी होजाय अकस्मातही जहां द्वेष भडक उठै, राजा जैसे कुहरेसे व्याप्त होजाय ॥ २३ ॥

विधूतपरुषैर्वातैरकस्माच्च पतद्रजाः ।
परस्परभवद्द्रोहो न तथा तूर्यनिस्वनः ॥ २४ ॥

कठिनपवन चलनेलगे, अकस्मात् धूर गिरनेलगे, परस्पर द्रोह होजाय, तुरही आदिका उत्तम शब्द नहो ॥ २४ ॥

उत्प्रेक्षितभयत्रासो निर्घातोल्काविभूषितः ।
उद्धूमः प्रज्वलच्छत्रो विदक्षिणशिवारुतः २५ ॥

भय और त्राससा विदित होतारहै, वज्रकेसा शब्द और उल्कापात होताहो, सधूम छत्र जलतासा दीखै, वा दक्षिण ओर अशुभतासूचक गीदडी रुदन करती हों ॥ २५ ॥

मण्डलैःकाकगृध्राणामाकीर्णो रूक्षवासिभिः ।
मुहुरत्युग्रतादीप्तः संसिक्तो रक्तवृष्टिभिः ॥ २६ ॥

काक और गृद्धोंके मण्डल बहुत दीखैं, ठूठोंपर बैठै, कभी कभी जलतीसी दीखने लगे, लालरंगकी बूँदोंकी वर्षा हो ॥ २६ ॥

परीतराजनक्षत्रःक्रूरैरौत्पातिकैर्ग्रहैः ।
सूर्यदृष्टकबन्धादिरकस्मान्मूढवाहनः ॥ २७ ॥

क्रूर और उत्पाती नक्षत्रोंसे राजाका नक्षत्र युक्तहो, सूर्यमें कबन्ध दीखै, अकस्मात् अपनी सवारियोंको मोह हो जाय ॥ २७ ॥

अकस्मान्मत्तमातङ्गप्रशुष्यद्दानशीकरः ।
इत्यादिविकृतोपेतः स्कन्धावारो न शस्यते ॥ २८ ॥

अकस्मात् मतवाले हाथियोंका मद सूखजाय, इत्यादि विपरीत बातैं, जहां हों वह छावनी अच्छी नहीं होती ॥ २८ ॥

प्रहृष्टनरनारीकः प्रशस्तस्वनदुन्दुभिः ।
गम्भीरहेषितहयः शस्त्रबृंहितकुञ्जरः ॥ २९ ॥

जहांके नरनारी प्रसन्नहैं, जहांके दुन्दुभी नगाडोंका शब्द प्रशस्तहै, घोडोंका हींसना जहां गम्भीर होताहै, हाथी अपनी चिंघाड भरते हैं, शस्त्र निर्मल रहतेहैं ॥ २९ ॥

पुण्याहब्रह्मघोषाढ्यो नृत्यगीतसमस्वनः ।
निर्भीतिको महोत्साह आकाङ्क्षितजयोदयः॥ ३० ॥

ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचन वेद घोषसे बढाहुआ शब्द नृत्यगीतके समान होताहै, निर्भयता महाउत्साह जयकी लालसा होतीहै ॥ ३० ॥

नीरजस्कोऽतिवृष्टश्च प्रादक्षिण्यस्थितग्रहः ।
दिव्यान्तरिक्षैरुत्पातैः पार्थिवैश्चाप्यदूषितः ॥ ३१ ॥

धूरिरहित वर्षासम्पन्न, ग्रहोंकी अनुकूलता, दिव्यअन्तरिक्षके उत्पात और राजोंके उत्पातोंसे अदूषित ॥ ३१ ॥

नीचैः प्रवृत्तानुलोममारुतस्तुतमङ्गलः ।
हृष्टपुष्टबलः साधुः सुगन्धिज्वलितामलः ॥ ३२ ॥

सहज सहज चलतीहुई पवन मंगलकी सूचना देतीरहै, सेना हृष्टपुष्ट सुगन्धिसे व्याप्त निर्मल ॥ ३२ ॥

अमद्यमाद्यन्मातङ्ग आसाराभ्युदयान्वितः ।
इत्यादिलक्षणोपेतः स्कन्धावारः प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

विनाही मदके हाथी मतवाले विदितहों, सेना उदयोन्मुखीहो, इन लक्षणोंवाली छावनी विजय देनेवाली और श्रेष्ठ कहीहै ॥ ३३ ॥

शस्ते तस्मिन्द्विषो भङ्गो ज्ञेयोऽशस्ते विपर्ययः ।
निमित्तान्येव शंसन्ति शुभाशुभफलोदयम् ॥ ३४ ॥

प्रशंसित छावनीसे शत्रुका भंग होता है अप्रशंसित निकृष्टसे अपनी हार होती है, इसप्रकार शुभ फलके देनेवाले यह निमित्त देखे जाते हैं३४

तस्मादेतानि शास्त्रज्ञो राजा समुपलक्षयेत् ।
प्रशस्तेन निमित्तेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ३५ ॥

इसकारण शास्त्रका जाननेवाला राजा इन निमित्तोंको भलीभाँति जानै जब अच्छे शकुन हो अन्तरात्मा प्रसन्नहो ॥ ३५ ॥

व्यक्तमारभ्यमाणं हि सिद्धिं याति समीहितम् ।
सहायसम्पद्विज्ञानं सत्त्वं दैवानुकूलता ॥ ३६ ॥

तथा जिसका आरम्भ स्वच्छ है उसकी मनःकामना सिद्ध होती है, सहायसम्पात्ति, विज्ञान, दैवकी अनुकूलता ॥ ३६ ॥

उद्योगो व्यवसायश्च यस्यैते तस्य सिद्धयः ।
तन्मूलत्वात्प्रजानां तु राजा स्कन्ध इति स्मृतः॥ ३७॥

उद्योग, सत् असत्का विचार जिसमें है उसको सिद्धि होती है, इन

सबकी और प्रजाओंकी भूल होनेसे राजाको स्कन्ध कहते हैं ॥ ३७ ॥

आवारोऽमात्यदण्डादिर्वृत्तिरावार उच्यते ।
भूतानां भूतिनिष्पत्तेरावारेण महीयसा ॥ ३८ ॥

और अमात्य (मन्त्री) दण्डादिकी वृत्तिका नाम आवार है, इस बडे आवारसे प्राणियोंको ऐश्वर्यकी प्राप्ति होतीहै ॥ ३८ ॥

आवृतस्तु यतः स्कन्धः स्कन्धावारस्ततः स्मृतः ।
समवस्कन्दवासाम्बुवीवधासारनिग्रहाः ।
एते प्रयत्नतो रक्ष्याः स्कन्धावारस्य मृत्यवः॥ ३९॥

जिसकारण कि, स्कन्ध इनसे आवृत होता है, इससे वह स्कंधावार कहाता है, अपनी छावनी निवास जल सेना भार ढोनेकी सामग्री धान्यादि और सीमा यह स्कन्धावार छावनीकी वस्तुएँ विशेष यत्नसे रक्षा करनी चाहिये अन्यथा छावनीका अनिष्ट उपस्थित होताहै ॥ ३९ ॥

इति प्रयत्नेन निवेशयेद्बलं शुभाशुभं वास्य तदोपलक्षयेत् ।
परस्य चैतन्निपुणं विलोकयेत्समारभेताशुभहीनदर्शने ॥ ४० ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्कन्धावारसन्निवेशो
निमित्तज्ञानञ्च षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इसप्रकार प्रयत्नसे निवासका शुभाशुभ देखकर वहां अपनी सेना स्थापित करै, और शत्रुके विपरीत अशुभ निमित्तोंका विशेष विचार करै, जब शत्रुके निमित्त (शकुन) अशुभ और हीनहों तब युद्धारम्भ करै ४०

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां स्कन्धावारसन्निवेशो
निमित्तज्ञानञ्च षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः १७.

महाप्रज्ञानसम्पन्नः सत्त्वदैवोपबृंहितः ।
उद्योगाध्यवसायाभ्यामुपायान्निक्षिपेत्परे ॥ १ ॥

विशेष ज्ञानसे सम्पन्न सत्वगुण और दैवकी अनुकूलता लिये हुए उद्योग और सत् असत्का विचार कर शत्रुपर उपायप्रयोग करै ॥ १ ॥

चतुरङ्गबलं मुक्त्वा कोषो मन्त्रश्च युध्यते ।
तत्साधुमन्त्रो मन्त्रेण कोषेण च जयेदरीन् ॥ २ ॥

चतुरंगिणी सेनाको छोड़कर जहां कोष और मन्त्रसेही युद्ध होताहै वही श्रेष्ठ मन्त्र है, जिसमें कोष और मन्त्रसेही शत्रु जीता जाता है ॥ २ ॥

साम दानञ्च दण्डश्च भेदश्चेति चतुष्टयम् ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३ ॥

साम, दाम, दण्ड और चौथा भेद, माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल यह सात उपाय जयके कहे हैं ॥ ३ ॥

परस्परोपकाराणां कीर्त्तनं गुणकर्मसु ।
सम्बन्धस्य समाख्यानमायत्याः सम्प्रकाशनम्॥ ४ ॥

गुण और कर्मोंमें परस्पर उपकारोंका कीर्तन, सम्बन्धका आख्यान, आगामी समयमें कार्य प्रकाश करना ॥ ४ ॥

वाचा पैशलया साधुं तवाहमिति चार्पणम् ।
इति सामप्रयोगज्ञैः साम पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ५ ॥

मनोहर मीठी वाणीसे मैं तुम्हाराहूं इसप्रकार अपनेको अर्पण कर देना इसप्रकार सामके प्रयोग जाननेवालोंनें पांच प्रकारका साम कहा है ॥५॥

यः सम्प्राप्तधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यमः ।
प्रतिदानं तथा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम् ॥ ६ ॥

जिसको दान देनाहै,उसीसे उत्तम, मध्यम जो धन प्राप्त हुआहै, उसको ज्योंका त्यों लौटा देना,जो अपने शत्रुने लियाहै उसका अनुमोदन करना ६

द्रव्यादानमपूर्वं च स्वयं ग्राहप्रवर्त्तनम् ।
देयस्य प्रतिमोक्षश्च दानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

कि आपने अच्छाकिया अपूर्वद्रव्य जिसका सम्बन्ध नहीं ऐसे द्रव्यका ग्रहण कराना अपने राज्यसे वह कुछ ग्रहण करले इस हेतुमें उसको प्रवृत्त करना और जो कुछ कर ग्रहण किया जाता है उसमेंसे कुछ छोडदेना इसप्रकार यह पाँच प्रकारका दान कहाहै ॥ ७ ॥

स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा ।
सन्तर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

स्नेह रागका दूर करदेना, हर्ष उत्पन्न कराना, तथा झुडकना यह तीन प्रकारका भेद भेदके जाननेवालोंने कहाहै ॥ ८ ॥

वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च ।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ ९ ॥

वध करदेना, धन हरण करलेना, विशेष कायाकष्ट देना यह दण्डके ज्ञाताओंने तीनप्रकारका दण्ड वर्णन कियाहै ॥ ९ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च पूर्वो द्विविध इष्यते ।
प्रकाशदण्डान्कुर्वीत लोकद्विष्टांस्तथा रिपून् ॥ १० ॥

वह दण्ड भी प्रकाश और गुप्त भेदसे दो प्रकारका है प्रजाद्वेषी तथा शत्रुओंपर प्रगट दण्ड करना चाहिये ॥ १० ॥

यैरुद्विजेतेह लोको ये चैव नृपवल्लभाः ।

बाधन्ते व्यधिकं ये च तेषूपांशु प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥

जिससे प्रजाके वर्ग उद्वेजित होतेहों जो राजाका वल्लभ हो और सुहृद जो प्रजाको विशेष पीडा देते हों उनको गुप्त दण्ड करना चाहिये ॥ ११ ॥

विषेणोपनिषद्योगैः शस्त्रेणोद्वर्त्तनेन वा ।
तथोपांशु नयेद्दण्डं यथान्यो न विभावयेत् ॥ १२ ॥

विष वा उपनिषद्के योगसे शस्त्र प्रयोग वा कोई वस्तुके उबटनसे पीडा पहुँचाकर जिससे कोई न जाने ऐसा उन समीपियोंको दण्ड दे ॥ १२ ॥

ब्राह्मणे जातिमात्रेऽपि धार्म्मिके चान्त्यजेऽपि हि ।
धर्म्मोन्निनीषया विद्वान् न वधं दण्डमादिशेत् ॥ १३ ॥

जातिमात्रकेही ब्राह्मण, धर्मात्मा अन्त्यजपर धर्मकी उन्नति करनेवाला कभी मृत्युदण्डविधान न करै ॥ १३ ॥

उपेक्षया वा हन्तव्या येषूपांशुः प्रशस्यते ।
उपेक्षां चापि निपुणः प्रत्यक्षं परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

एकान्त अर्थात् उसही गुप्त दण्डकी व्यवस्थाकी बड़ाई कीगई है और उस उपेक्षाको भी चतुर पुरुष प्रत्यक्षरूपसे त्यागन करदे ॥ १४ ॥

प्रविशन्निव चेतांसि दृष्ट्वा साधु पिबन्निव ।
स्रवन्निवामृतं साम प्रयुञ्जीत प्रियं वचः ॥ १५ ॥

देखतेही मानो प्रसन्नचित्तसे नेत्रोंसे पीते हुएसे, अमृतको मानो टपकाते हुए, सामपूर्वक प्रियवाणीका प्रयोग करे ॥ १५ ॥

वागनुद्वेगजननी सामेति परिकीर्त्यते ।
सामाख्यं सुनृतं सत्यं प्रियं स्तोत्रं च कीर्त्यते ॥ १६ ॥

जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग न हो वह सामवाणी कहातीहै, सामनामक सरल सत्यप्रिय स्तुति कहीगई है ॥ १६ ॥

आत्मनो विषयमिव कुर्वन्दद्यात्समीहितम्।
जलवत्पर्वताञ्छत्रून्भिन्द्यादनुपलक्षितः ॥ १७ ॥

अपने वशमें करनेके लिये मनइच्छित दूसरेको देना चाहिये, जैसे जल भीतरही भीतर पर्वतको तोडताहै इसप्रकार शत्रुके न जानते न जानते उनमें भेद करादे ॥ १७ ॥

क्षीराब्धिर्मथितः साम्ना फलायामरदानवैः।
निजघ्निरे धार्त्तराष्ट्रान्सामप्रद्वेषिणोऽचिरात् ॥ १८ ॥

दैत्य और देवताओंने साम उपायसेही अमृतके लिये क्षीरसागरको मथा था, और उससे अमृत निकाला पीछे दैत्य वंचित कियेगये और सामके न माननेवाले धृतराष्ट्रके पुत्र शीघ्रही नष्ट होगये थे यह 'भारतमें' प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

दारुणं विग्रहं विद्वान्दानेन प्रशमं नयेत्।
इन्द्रोपचारे शुक्रस्य दानेन समशीयिवान् ॥ १९ ॥

विद्वान्को उचित है कि, दारुण विग्रहकोभी दानसे शान्त करे, इन्द्रके उपचार (प्रयोग) और दानसे शुक्रने विग्रह शान्त करदियाथा ॥१९॥

अपराधेन दुहितुः कुपिते भृगुनन्दने।
वृषपर्वा प्रदानेन दानवेन्द्रोऽभवत्सुखी ॥ २० ॥

जिससमय शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्रीका भूलसे वस्त्र शुक्रकी कन्या देवयानीने धारण करलियाथा, और उसने बुरा भला कहा यहांतक कि, देवयानीको सूखे कुएमें ढकेलकर चलीआई, राजा ययातिने उसे निकाला, यह बात अपनी पुत्रीसे सुन जब भृगुजी क्रोधितहुए तब वृषपर्वाने अपनी वही कन्या देवयानीको दासीरूप देकर उनको प्रसन्न किया ॥ २० ॥

उपगम्यापि दातव्यं बलिने शान्तिमिच्छता।
समूल एव गान्धार्या अप्रयच्छन्गतः क्षयम् ॥ २१ ॥

शान्तिकी इच्छावाला बलीके समीप जाकर भी कुछ भेंट दे, विनादानके समूलही गान्धारीके पुत्र क्षय होगये ॥ २१ ॥

किञ्चित्प्रयच्छन्भूयस्या तृष्णया परिलोभयन् ।
भिन्द्याच्चतुर्विधान्भेदान्प्रविश्योभयवेतनैः ॥ २२ ॥

बडी तृष्णासे लुभातेहुए कुछेक देतेहुए दोनों ओरकी वेतन लेतेहुए पुरुषोंद्वारा प्रविष्ट होकर पुरुषोंमें चार प्रकारके भेदोंका प्रयोग करै ॥ २२ ॥

अलब्धस्वपणो लुब्धो मानी चाथावमानितः ।
क्रुद्धश्च कोपितो यस्मात्तथातीतोऽवभाषितः ॥ २३ ॥

जिसको अपनी दीहुई वस्तुका मोल नहीं मिला, लोभी, मानी और तिरस्कार पाये हुए क्रोधी, किसी कारणसे कोप कराये हुए, तुम्हारे विलम्बसे हमारा काम बिगड गया इसप्रकारसे कहेगये ॥ २३ ॥

यथाभिलषितैः कामैर्भिन्द्यादेतांश्चतुर्विधान् ।
परपक्षे स्वपक्षे च यथावत्प्रशमं नयेत् ॥ २४ ॥

इन चार प्रकारके पुरुषोंको अपनी अभिलषित कामनाके अनुसार भेदित करै, परपक्ष और शत्रुपक्षकी यथावत् शान्ति करै ॥ २४ ॥

भेदं कुर्वीत यत्नेन मन्त्र्यमात्यपुरोधसाम् ।
तेषु भिन्नेषु भेदो हि युवराजे तथोर्जिते ॥ २५ ॥

मन्त्री, अमात्य और पुरोहितोंका भेद यत्नपूर्वक करै, उनके भेदसे बडा भेद होता है इनमें भी युवराजका भेद महाभेद कहलाता है ॥२५॥

अमात्यो युवराजश्च भुजावेतौ महीपतेः ।
मन्त्री नेत्रं हि भिन्नेऽस्मिन्नेकस्मिन्नपि तद्विधः॥ २६ ॥

अमात्य और युवराज यह दोनों राजाकी भुजा हैं और मन्त्री नेत्रहैं, इनमें एकके भी न होनेसे राजा विकलांग होता है ॥ २६ ॥

सर्वावस्थं हि मेधावी तत्कुलीनं विकारयेत् ।
विकृतस्तु कुलीनस्तु स्वयोनिं ग्रसतेऽग्निवत् ॥ २७ ॥

बुद्धिमान्‌को उचित है कि, सब अवस्थाओंमें कुलीनको ही भेद करे, कुलीन भेदको प्राप्त होकर अग्निके समान अपने पालकस्थानको भस्म करता है ॥ २७ ॥

तत्कुलीनेन तुल्यस्तु पुमानभ्यन्तरोषितः ।
तस्मादेतौ परं भिन्द्याच्छमं वात्मनि सन्धयेत् ॥ २८ ॥

अभ्यन्तरमें रहनेवाला पुरुषभी उस कुलीनकी समान होता है, इस कारणसे इन दोनोंका भेद अवश्य करै अथवा शान्तिपूर्वक इनको अपनेमें सन्धान करै ॥ २८ ॥

तत्रोपजापः कर्त्तव्यो यः कोपानुग्रहक्षमः ।
स कल्याणः शठो वेति परीक्ष्यः सूक्ष्मया धिया ॥ २९ ॥

जो कोपके अनुग्रह करनेमें समर्थ हो उसमें भेद करावे, वह कल्याणकारी है वा शठ है, ऐसा सूक्ष्मबुद्धिसे विचारै ॥ २९ ॥

कल्याणस्तु यथाशक्ति करोती सफलं वचः ।
शठः पक्षौ चलयति द्वावथार्थोपलिप्सया ॥ ३० ॥

जो कल्याणयुक्त है, वह यथाशक्ति अपने वचनको सफल करता है, और शठ अपनी प्रतिज्ञासे चलायमान होजाता है, यह दोनों अर्थकी इच्छावाले हैं ॥ ३० ॥

पूर्वसेनापतिर्नीचः कालयापनमाश्रितः ।
मिथ्याभिशस्तः श्रीकाम आहूयाप्रतिमानितः ॥ ३१ ॥

जो पूर्वसेनापति नीचपदपर स्थित हुआ काल बितानेके निमित्त स्थिति कररहा हो, मिथ्याही उसको दोष लगाया गया हो, लक्ष्मीकी इच्छा करता हो, जिसका मान बिगाडा गया हो उसको बुलाना चाहिये ॥ ३१ ॥

राजद्वेषी तत्कुलीनो दुष्यते यश्च भूभुजा ।
आहितव्यवसायश्च तथा करनिवेशितः ॥ ३२ ॥

जो राजद्वेषी कुलीन हो, राजाने जिसको दूषित किया हो, जिसका व्यवसाय नष्ट किया गया हो, तथा कर विशेष ग्रहण किया हो ॥ ३२ ॥

रणप्रियः साहसिक आत्मसम्भावितस्तथा ।
विच्छिन्नधर्मकामार्थः क्रुद्धो मानी विमानितः ॥ ३३ ॥

रणप्रिय, साहसी, स्वयं संभावनावाला हो, जिसको धर्म, अर्थ, कामसे विच्छिन्न करदिया हो, क्रुद्ध, मानी, वा तिरस्कार किया हुआ ॥ ३३ ॥

भीतः स्वदोषाभित्रस्तः कृतवैरोऽभिशान्त्वितः ।
अतुल्येन सहाशक्तस्तुल्यमानो निराकृतः ॥ ३४ ॥

भीत, अपने दोषसे घबडाया हुआ, वैर बाँधेहुए दूसरोंसे सान्त्वना पाये हुए, अशक्त अतुल कियाहुआ वा तुल्यमानवालेसे तिरस्कार किया हुआ ३४

अकारणान्निरुद्धश्च कारणाच्च विशोषितः ।
अकारणात्परित्रस्तः पूजार्होऽप्रतिपूजितः ॥ ३५ ॥

विनाकारण निरोधकियाहुआ वा किसी विशेष कारणसे निरोध किया हुआ विनाही कारण व्याकुलीभूत किया हुआ वा सम्मानके योग्य होनेपर भी न पूजित हुआ ॥ ३५ ॥

हृतद्रव्यकलत्रश्च महाभोगाभिकांक्षितः ।
परिक्षीणो बहिर्बन्धुर्बहिर्द्रव्यो बहिष्कृतः ॥ ३६ ॥

द्रव्य और स्त्री जिसकी छीन लीगई है ऐसा, महाभोगकी इच्छावाला परिक्षीण हुआ, बन्धुरहित किया हुआ. द्रव्यसे बहिर्भूत किया हुआ तथा गोष्ठीसे बाहर किया गया ॥ ३६ ॥

इति भेद्याः समाख्याता भिन्द्यादेतान्परास्थितान् ।
आगतान्पूजयेत्कामैर्निजांश्च परिसाधयेत् ॥ ३७ ॥

यह सब पुरुष भेदके योग्य हैं शत्रुके पाससे आयेहुए इनको अच्छी प्रकार संस्कार कर अपनी कामनाओंको साधे ॥ ३७ ॥

समतृष्णानुसन्धानं समन्युभयदर्शनम् ।
प्रधानं दानमानञ्च भेदोपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३८ ॥

समान तृष्णावालेकी खोजकरना, क्रोधी और भय देखे हुएको दान मानसे वश करै यह भेदके प्रधान उपाय हैं ॥ ३८ ॥

भेदं कुर्वीत मतिमान्विगृहीतो बलीयसा ।
षण्डामर्कौ सुरैर्भित्त्वा बलवन्तौ पराजितौ ॥ ३९ ॥

बलवान्से निगृहीत होकर बुद्धिमान् भेदकाही प्रयोग करै बलवान् हुएभी षण्ड और अमर्क परस्पर भेद डलवाकर देवताओंने पराजित किये ३९

दण्डेन हि समाहन्याद्भित्वाऽरेः संहतं बलम् ।
भिन्नं हि तत्काष्ठमिव तृणदग्धं विशीर्य्यते ॥ ४० ॥

और आगे स्थित हुई सेनाको दण्डद्वारा नष्ट करै और उसकी संघटाईको भेदित करै, और वह छिन्न भिन्न होकर फाडेहुए काष्ठके समान तृणाग्निकी समान शीघ्र नष्ट होजाती है ॥ ४० ॥

उत्साहदेशकालैस्तु संयुक्तः सुसहायवान् ।
युधिष्ठिर इवात्यर्थं दण्डेनास्तन्नयेदरीन् ॥ ४१ ॥

उत्साहवान् देशकालसे संयुक्त अच्छी सहाय सम्पन्न युधिष्ठिरके समान बली होकर दण्डसे अत्यन्तही शत्रुको अस्त करदे ॥ ४१ ॥

आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य दण्डमभ्यधिकं नयेत् ।
एकाकी सत्त्वसम्पन्नो रामः क्षत्रं पुराऽवधीत् ॥ ४२ ॥

अपनी शक्तिको देखकर दूसरेपर दण्ड प्रयोग करै, शक्ति सम्पन्न होकरही इकले परशुरामने २१ इक्कीसबार क्षत्रियोंको नष्ट कर दियाथा ४२

अलसं विक्रमे श्रान्तं विहितोपायचेष्टितम् ।
क्षयव्ययप्रसारैस्तु सन्ततं परिविद्रुतम् ॥ ४३ ॥

आलसी विक्रममें शान्त उपायकी चेष्टा देखेहुए क्षय और व्यय अधिकाईसे सन्तप्त, निस्तेज ॥ ४३ ॥

भीतं मूर्खं स्त्रियं बालं धार्मिकं दुर्जनं पशुम् ।
मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सान्त्वेन साधयेत् ॥ ४४ ॥

डरे हुए, मूर्ख, स्त्री, बालक, दुर्जन, पशु, धार्मिक, मित्रताप्रधानवाले, कल्याणबुद्धि इतनोंको सान्त्वनासे साधै, अर्थात् समझा बुझाकर अपने वशमें करै ॥ ४४ ॥

अन्योन्यशङ्कयोद्विग्नान्दुष्टान्दण्डस्यकारणात् ॥ ४५ ॥

और परस्परकी शंकासे एक दूसरेसे भिन्न हुए दुष्टोंको दण्डकेही कारणसे वशीभूत करै ॥ ४५ ॥

पुत्रान्भ्रातॄंश्च बन्धूंश्च सामर्थ्येन च साधयेत् ।
एतैः कः सदृशो लोके दूरं रिपुकृतैरपि ॥ ४६ ॥

पुत्र, भ्राता, बंधु इनको भी अपनी सामर्थ्यसे वशीभूत करै, इनकी समान दूसरा लोकमें कोई अहितकारी नहीं है, जब यह शत्रुके द्वारा भेदको प्राप्त होजाँय ॥ ४६ ॥

सामैतेषु प्रयुञ्जीत दैवात्प्रस्खलितेष्वपि ।
दुष्करं यान्ति विकृतिस्पर्धाशीलनिबन्धनात् ॥ ४७ ॥

इनपर वश करनेके लिये साम उपायका प्रयोग करना चाहिये, यदि दैवात् यह स्खलित होजाँय तो स्पर्धा और शीलके जानेसे इनमें दुष्कर विकार प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता ।
अद्रोह इति येष्वेतदाचार्यास्तान्प्रचक्षते ॥ ४८ ॥

कुल, शील, दया, दान, धर्म, सत्य, कृतज्ञता, अद्रोह यह जिनमें विद्यमान हों वह आचार्य कहाते हैं ॥ ४८ ॥

पौरजानपदांश्चैव दण्डमुख्यश्च दण्डवित् ।
साधयेद्दानभेदाभ्यां दानभेदविचक्षणः ॥ ४९ ॥

दण्डका जाननेवाला पुरवासी, देशवासी जनोंको दण्डसे, और दान तथा भेदमें चतुर पुरुष दान भेदसे पुर और जनपदके देशोंको साधै ४९

अपराद्धांस्तु सुस्निग्धान्स्नेहोक्त्या मानदानतः ।
साधयेद्भेददण्डाभ्यां यथा योगेन चापरान् ॥ ५० ॥

और स्नेहयुक्त अपराधियोंको प्रीतिवचन, मान, दंड, भेद और दानसे साधै । और दूसरोंको यथारीतिसे साधै ॥ ५० ॥

देवताप्रतिमास्तम्भसुषिरान्तर्गतैर्नरैः ।
पुमान्स्त्रीवस्त्र संवीतो निशि चाद्भुतदर्शनम् ॥ ५१ ॥

देवताप्रतिमा स्तम्भोंमें उनके भीतर पुरुष स्थित होकर अनेक चेष्टा करते हैं कहीं पुरुष स्त्रियोंके वस्त्र धारण करलेतेहैं तथा रातमें अद्भुत दर्शन दिखातेहैं ॥ ५१ ॥

वेतालः क पिशाचानां देवानाञ्च सुरूपता ।
इत्यादिमाया विज्ञेया मानुषी मानुषैश्चरन् ॥ ५२ ॥

वेताल, पिशाच और देवताओंकी समान रूप धरना यह मानुषी मायाही जाननी, मनुष्यही इन मायाओंको किये हुएहैं, देवता आदि इसप्रकार यत्र तत्र दिखाई नहीं देते ॥ ५२ ॥

कामतो रूपधारित्वं शस्त्रास्त्राश्माम्बु वर्षणम् ।
तमोनिलीनता चैव इति माया च मानुषी ॥ ५३ ॥

जैसी इच्छा हो वैसा रूप धारण करलेना, अस्त्र, शस्त्र, जलका वर्षाना, अंधकारमें लीन होजाना, यह सब मानुषी मायाहै ॥ ५३ ॥

जघान कीचकं भीम आश्रितः स्त्रीस्वरूपताम् ।
चिरं प्रच्छन्नरूपोऽभूद्दिव्यया मायया नलः ॥५४॥

देखो स्त्रीका रूप धारणकर भीमने कीचकको मारडाला, और दिव्य मायासे राजा नल बहुत कालतक अपना रूप छिपाये सारथीके वेषमें राजा ऋतुपर्णके स्थानमें रहा ॥ ५४ ॥

अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम् ।
इत्युपेक्षार्थकुशलैरुपेक्षा त्रिविधा स्मृता ॥ ५५ ॥

अन्यायमें, व्यसनमें, युद्धमें प्रवृत्ति हुएका निवारण न करना, उपेक्षामें कुशलपुरुषोंने यह तीनप्रकारकी उपेक्षा कही है ॥ ५५ ॥

अकार्यें सज्जमानस्तु विषयान्धीकृतेक्षणः ।
कीचकस्तु विराटेन हन्यतामित्युपेक्षितः ॥ ५६ ॥

जो अकार्यमें फँसा हुआ था विषयके कारण जिसके नेत्र अंधे होरहेथे ऐसे कीचकको मरते हुए जानकर विराटने उपेक्षा की थी, अर्थात् जब वह द्रौपदीकी इच्छा करता था, तब भीमसेनने उसको द्रौपदीका रूप धारण करके मारडाला और राजा विराट उसके वधसे चुप रहे ॥ ५६ ॥

ससज्जं भीमसेनं वा स्वार्थविच्छेदभीतया ।
हिडिम्बया निजो भ्राता हन्यतामित्युपेक्षितः॥५७॥

और भीमसेनको सज्जित देखकर अपने स्वार्थ सिद्धिके लिये निर्भय हिडिम्बा राक्षसीने अपने भ्राता बकके मारेजानेमें उपेक्षा की थी, आशय यह कि, वह भीमसेनपर मोहित होगई और जब भीमसेनने उसके भ्राता बकराक्षसको मारडाला तब उसके मारनेमें वचनको उसने कुछ सहायता न की ॥ ५७ ॥

मेघान्धकारवृष्टयग्निपर्वताद्भुतदर्शनम् ।
दूरस्थानाञ्च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम् ॥५८॥

मेघ, अन्धकार, वृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुतदर्शन और दूरस्थित ध्वजा पताका संयुक्त सेनाका दर्शन होना ॥ ५८ ॥

छिन्नपाटितभिन्नानां संस्कृतानाञ्च दर्शनम् ।
इतीन्द्रजालं द्विषतो भीत्यर्थमुपकल्पयेत् ॥ ५९ ॥

छिन्न भिन्न पाटित [विदारण] और संस्कृत वस्तुका दिखाना, यह इन्द्रजालविद्या शत्रुओंको भयदिखानेके लिये कल्पना करै ॥ ५९ ॥

इत्युपायाः समाख्याता राज्ञो नानार्थसाधकाः ।
सामैतेषु हि सामज्ञो यथा कामं प्रयोजयेत् ॥ ६० ॥

राजोंके अनेक अर्थ साधनेवाले यह अनेक उपाय वर्णन किये हैं, सामका जाननेवाला इनमें प्रथम सामउपायोंकी कल्पना करै ॥ ६० ॥

सामभेदौ च कर्त्तव्यौ साधु दानपुरःसरौ ।
दानेन हि समायुक्तावेतावर्थस्य सिद्धये ॥ ६१ ॥

दानपूर्वक साम और दान उपाय प्रयोग करने चाहिये दानसेही युक्त होनेसे इन दोनों अर्थोंकी सिद्धि होतीहै ॥ ६१ ॥

दानरिक्तेन सर्वत्र साम्ना कृत्यं भृशेन वा ।
निर्दानं साम नायाति कलत्रेष्वपि संस्थितिम् ॥ ६२ ॥

यदि दानके रहित साम हो तो वह निरर्थक होजाताहै, विना दानके तो स्त्रीमें भी केवल साम स्थितिका साधन नहीं होता ॥ ६२ ॥

इत्याद्युपायान्निपुणं नयज्ञो विनिक्षिपेच्छत्रुबले निजे वा ।
निरभ्युपायो नियतं प्रयाणं विचेष्टमानोऽन्ध इवाभ्युपैति ६३

नीतिके जाननेवालेको यह सम्पूर्ण उपाय शत्रुकी सेना वा अपने द्रोहियोंमें प्रयोग करने चाहिये और यदि उपाय न कियाजाय और वैसेही प्रयाण कियाजाय तो उसकी चेष्टा अन्धकी समान होतीहै ॥ ६३ ॥

अवश्यमायान्ति वशं विपश्चितामुपायसन्दर्शबलेन सम्पदः ।
भवन्त्युदाराविधिवत्प्रयोज्यतेफलंहिराज्ञांक्वचिदर्थसिद्धये ६४

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे उपायविकल्पो नाम
सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

उपाय सन्दर्शनके बलसे अवश्यही बुद्धिमानोंके वशमें लक्ष्मी आजाती है और विधिपूर्वक प्रयोगोंमें राजाकी उदारता होती है और अर्थसिद्धिवाले फलकी प्राप्ति होतीहै ॥ ६४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायामुपायविकल्पो
नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः १८.

सामादीनामुपायानां त्रयाणां विफले नये ।
विनयेन्नयसम्पन्नो दण्डं दण्डेषु दण्डवित् ॥ १ ॥

जब राजनीतिके साम, दान, भेद इन तीन उपायोंसे कार्य न चले तब नीतिसम्पन्न दण्डविधानका ज्ञाता दण्डयोग्यपुरुषोंमें दण्डविधान करै ॥ १ ॥

देवानभ्यर्च्य विप्रांश्च प्रशस्तग्रहतारकम् ।
षड्विधं तु बलं व्यूह्य द्विषतोऽभिमुखं व्रजेत् ॥ २ ॥

अच्छे नक्षत्र ग्रह तारादि देखकर तथा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करके मंत्रकोष संयुक्त छः प्रकारवाली सेनाकी व्यूह रचना (कवायदबन्दी) करके शत्रुपर चढाई करै ॥ २ ॥

सत्कारादनुरागाच्च सह सङ्कटनाशनात् ।
नित्यं तद्भावभावित्वान्मौलं भूतबलाद्गुरु ॥ ३ ॥

निरन्तर सत्कार, प्रेम, संकटके समय स्वामीके दुःखनाश करनेमें तत्पर

रहने और नित्य स्वामीके भावमें भावित रहनेसे मौल (परम्परा पुस्तैनी नौकरोंका) बल सेनाके बलसे श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

मौलं भूतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ।
पूर्वं पूर्वं गरीयस्तु बलानां व्यसनन्तथा ॥ ४ ॥

पुस्तैनी नौकरोंका बल, भूत(पीछे भरती किये नौकरोंका) बल, सुहृत् समूह [समुदायके मित्र] द्विषत् (शत्रुभूत वर्गोंका) बल आटविक [मैदानमें वनमें युद्ध करनेवाले वा वनवासी पर्वतवासी सेनाका बल] यह पूर्व पूर्व श्रेष्ठ हैं अर्थात् गरीय हैं और सेनाका व्यसनभी पूर्व पूर्व गरीय है॥४॥

वृत्तेश्च स्वाम्यधीनत्वाद्भूतं श्रेणीबलाद्गुरु ।
तुल्यसंहर्षणामर्षात्सिद्ध्यलाभात्तथैव च ॥ ५ ॥

स्वामीके अधीन वृत्ति होनेसे बराबर संहषर्णकी असह्यतासे तथा सिद्धिके प्राप्त न होनेसे श्रेणीबलसे भूतबल बडा है ॥ ५ ॥

बलाज्ज्ञानपदत्वाच्च मैत्राच्छ्रेणीबलं गुरु ।
सङ्ख्यातदेशकालत्वादेकार्थोपगमात्तथा ॥ ६ ॥

बलके एक देशवासी होनेसे देश और कालके सम्बन्धी मेल होनेसे एकही प्रकारका आचार विचार होनेसे वा दोनोंका एकही अर्थमें प्रयोजन प्राप्त होनेसे मित्रबलसे श्रेणीबल बडाहै ॥ ६ ॥

बलादप्रतयोग्याच्च शत्रौ मित्रबलं गुरु ।
प्रकृत्याऽधार्मिका लुब्धा अनार्याः सत्यभेदिनः ॥७॥

अस्वीकारयोग्य शत्रुके बलसे सुहृद्बल बडा है कारण शत्रुबल स्वभासेही अधर्मी, लोभी, अनाडी और सत्यनाशक है ॥ ७ ॥

तस्मादारण्यकतया तेभ्यः शत्रुबलं गुरु ।
उभयं तद्विलोपार्थं कालापेक्षाव्यवस्थितम् ॥ ८ ॥

१–एक प्रकारकी शत्रुरूपसेना ।

पूर्वमें आरण्यकता वननिवासपना होनेसे इन आटविकोंसे शत्रुबल बडाहै यह दोनों प्रकारका बल एक दूसरेको नष्ट करनेको समय परखताहै ८

विलोपव्यसने चैव तत्रास्य विजयो ध्रुवः ।
उपजापकृतात्तस्योद्भयादस्यां विशेषतः ॥ ९ ॥

इनके नाशरूप व्यसनसे राजाकी निश्चय विजय है इनका उपजाप [कानमें बात करके भेद कराना] वा उपस्थित हुए उत्कृष्ट भयसे इन दोनोंके विलोप व्यसनसे राजाकी अवश्य विजय होती है ॥ ९ ॥

परस्य वाप्युपजपेदुपजापाद्ध्रुवो जयः ।
स्फीतसारानुरक्तेन मौलेनोपचितः परः ॥ १० ॥

अथवा शत्रुके यहां परस्परका भेद करावे तो इस भेदसे अवश्य जय होती है, तथा अच्छी अनुरक्त पुस्तैनी सेनासे अवश्य जय होती है ॥ १० ॥

अपरेणापि रोषेण नृपेण योद्धुमिच्छया ।
तत्तुल्येनैव यातव्यः क्षयव्ययसहिष्णुना ॥ ११ ॥

जब दूसरा राजा भी क्रोधकर युद्धकी इच्छा करता हो तब क्षय और व्ययके सहनेमें समर्थ राजा उस अपनी समान राजापर चढाई करे और जानले कि, शत्रुभी क्षय और व्ययको सहसकताहै ॥ ११ ॥

प्रकृष्टेऽध्वनि काले वा गच्छेन्मौलैः समावृतः ।
मौलास्तु दीर्घकालत्वात् क्षयव्ययसहिष्णवः ॥ १२ ॥

अच्छे मार्ग वा समयमें पुस्तैनी मौलबलसे संयुक्त होकर गमन करे मौलबलही दीर्घकालका होनेसे क्षय और व्यय सहनेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

एषु वस्तषु मेधावी भूतादीनि विवर्जयेत् ।
दीर्घकालाध्वखिन्नेषु तेषु भेदभयं भवेत् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् इन कार्योंमें भूतबलको वर्जित रक्खै कारण कि, इनके दीर्घ-

कालतक एक कार्यमें लगने तथा दीर्घकालतक मार्गका खेद होनेसे भेदकी संभावना होतीहै ॥ १३ ॥

बहुत्वात्परसैन्यानां दीर्घकालाच्च खेदतः ।
नित्यप्रवासायासाभ्यां भेदोऽवश्यं हि जायते ॥ १४ ॥

शत्रुसेनाकी अधिकाई होनेसे दीर्घकालतक एककार्यमें लगे रहनेके खेदसे नित्य परदेशमें रहने और परिश्रमसे अवश्य भेद उपस्थित होताहै ॥ १४ ॥

प्रभूतं मे भूतबलं मौलमल्पमसारवत् ।
अरेरल्पं विरक्तं वा मौलं प्रायोऽल्पसारवत् ॥ १५ ॥

मेरा भूतबल अधिक है, मौलबल अल्प और असार है, शत्रुका बल थोडा और विरक्तहै अथवा शत्रुका मौलबल प्रायः असार है ॥ १५ ॥

प्रायो मन्त्रेण योद्धव्यमल्पायासेन वै जयः ।
अन्यो देशस्तु कालो वा प्रभूतौ चाक्षयव्ययौ ॥ १६ ॥
श्रान्तोपजापाद्विश्वस्तं यस्मात्सैन्यं परस्य च ।
अल्पप्रसारो हन्तव्य इत्युपेक्ष्या भृतैर्बलैः ॥ १७ ॥

ऐसे समय कौशल सम्मतिपूर्वक युद्ध करनेसे तो थोडे समयमेंही अवश्य जय होतीहै शत्रुके देश, काल और विशेष क्षय व्ययको देखकर जब कि चढकर आईहुई शत्रुकी सेना थकित तथा भेदित वा चुगली आदिसे विमन वा किसीप्रकारके अभयसे विश्वासवाली हो वा भेदसे विश्वास करचुकी हो, थोडे प्रसारवाली हो तब उसको सेनाके भृत्योंसे उपेक्षित जान वध करै ॥ १६ ॥ १७ ॥

स्फीतं त्रीणि बलं शक्यमाधातुं पानवर्त्मनि ।
ह्रस्वप्रथासव्यायामादिति सैन्यं समुत्पतेत् ॥ १८ ॥

शत्रुकी बडी सेनाको बढीहुई देखे तो उसको मद्यपानमें लगाकर जय करसकताहै, थोडी प्रवासवाली, व्यायामवाली, उस सेनापर चढ़ाई करदे १८ ॥

स्वप्रभूतं सुहृत्सैन्यं शक्यमाधातुमात्मनि ।
अल्पमेवाल्पयुद्धश्च मन्त्रेणेति सुहृद्बलैः ॥ १९ ॥

अपनी बढी चढी सुहृत्सेना अपनेमें अनुरक्त हो तो युद्धमें जय निश्चय है और सुहृदोंके बलसे सम्पन्न तथा मंत्रसे रक्षित थोडी सेना और थोडे युद्धसेभी उस आईहुई सेनासे जयलाभ होताहै ॥ १९ ॥

मित्रसाधारणे कार्ये मित्रायत्ते फलोदये ।
अनुग्राह्ये च पाण्डित्ये मित्रेणैव सह व्रजेत् ॥२०॥

मित्रके साधारण कार्यमें तथा जिसका फलोदय मित्रके आधीन हो, तब उसके अनुग्रहमें तत्पर तथा पाण्डित्यमें कुशल उस मित्रके साथही युद्ध करनको अपनी अनुरक्त व्यूहित सुखदुःख सहनशील सेनाके सहित गमनकरै२०

प्रभूतेनारिसैन्येन प्रेषयेन्महतो रिपून् ।
श्वसूकरवधापेक्षी नयं वा वचनं नयेत् ॥ २१ ॥

जो शत्रुकी सेना विशेष हो तो कुत्ते और सूकरके वधकी इच्छा करनेवाला नीतिमान् राजा उस शत्रुसेनासे युद्ध करनेको बड़ी सेना भेजे और उनसे विनीत वचन कहे ॥ २१ ॥

अविचित्तं कोपभयादभ्यासेन रिपोर्बलम् ।
वासयेत्कर्षयेच्चैनं दुर्गकण्टकशोधनैः ॥ २२ ॥

कोपके भयसे अविचित्त (व्याकुल) हुई शत्रुकी सेनाको कार्यको कहकर वास दे, तथा अपने दुर्गके कंटक शोधन कर अर्थात् द्वेषियोंको निकालकर शत्रुसेनाको कर्षण करै ॥ २२ ॥

नित्यमाटविकं सैन्यं दुर्गकण्टकशोधनैः ।
परदेशप्रवेशे च पुरा कुर्व्वीत पण्डितः ॥ २३ ॥

चतुरपुरुषको उचित है कि, पराये देशमें प्रवेश करनेसे पहले दुर्गके कंटकोंको शोधन करै और आटविक बल ठीक करै ॥ २३ ॥

एतन्मौलादिषड्वर्गः चतुरङ्गबलं विदुः।
षडङ्गमन्त्रकोषाभ्या पदात्यश्वरथद्विपैः ॥ २४ ॥

यही मौल अर्थात् पुस्तैनी आदि जनोंका षड्वर्ग चतुरंगबल कहाताहै। मंत्र, कोष, पैदल, सवार, रथ, हाथी यहभी षडङ्ग कहाहै ॥ २४ ॥

इति षड्विधमेतद्धि यथा योगबलं बली।
सुनिश्छिद्रं प्रतिव्यूह्य यायाज्ज्ञायो बलं प्रति ॥ २५ ॥

यही छः प्रकारका षडंग बल है, और यथायोग्य अपनी सेनाको निश्छिद्र जानकर व्यूहित करके शत्रुकी विशेषसेनाके प्रति गमन करै ॥२५॥

योगमस्य विजानीयात्सर्वं मन्त्रादिना नृपः।
कृताकृतप्रचारश्च सम्यक्सेनापतेस्तथा ॥ २६ ॥

राजा मन्त्रादिके द्वारा इस सेनाके सब योगको जाने तथा सेनापतिके कर्तव्य अकर्तव्यके प्रचारको भलीभाँतिसे जानै ॥ २६ ॥

कुलोद्गतं जानपदं मन्त्रज्ञं मन्त्रसम्मितम्।
दण्डनीतेः प्रयोक्तारमध्ये तारश्च यत्नतः ॥ २७ ॥

कुलपरंपरासे प्राप्त हुए अपने देशके, मन्त्र जाननेवाले, मन्त्रमें सम्मत होनेवाले, दण्डनीतिके प्रयोग करनेवाले और यत्नपूर्वक अध्ययन करनेवालेको ॥ २७ ॥

सत्त्वशौर्यक्षमास्थैर्यमाधुर्यार्थगुणान्वितम्।
प्रभावोत्साहसम्पन्नमाजीव्यमनुजीविनाम् ॥ २८ ॥

सत्व, शूरता, क्षमाशील, स्थिरता मधुरता, गुणोंसे सम्पन्न, अर्थसम्पन्न प्रभाव और उत्साहसे सम्पन्न अनुजीवियोंकी आजीविका देनेवाले ॥२८॥

मित्रवत्तमुदारास्यं बहुस्वजनबान्धवम्।
व्यावहारिकमक्षुद्रं पौरप्रकृतिसङ्गतम् ॥ २९ ॥

मित्रकीसमानउदारचेष्टावाले, उच्चमुख, बहुतसे स्वजन बन्धुओंसे सम्पन्न व्यवहारके ज्ञाता, क्षुद्रता रहित, पुरवासी और प्रजाओंसे संगतिवाले २९

नित्याकारणवैराणामकर्त्तारमनाविलम् ।
श्रुतानुबन्धिकर्माणमल्पामित्रं बहुश्रुतम् ॥ ३० ॥

नित्यही अकारण वैरके न करनेवाले, अनाविल (निर्मलमनवाले) आज्ञाशास्त्र सम्बन्धी कर्मोंके करनेवाले अल्पशत्रुवाले बहुत शास्त्रके ज्ञाता ३०

आरोग्यं व्यायतं शूरं त्यागिनं कालवेदिनम् ।
कल्याणाकृतिसम्पन्नं स्वसम्भाव्यपराक्रमम् ॥ ३१ ॥

रोगरहित, आगेके परिणामके ज्ञाता, शूर, त्यागशील समयके ज्ञाता कल्याणी अर्थात् मनोहर आकारसे सम्पन्न अपने पराक्रमके ज्ञाता ॥ ३१ ॥

गजाश्वरथचर्यासु शिक्षितं सुजितश्रमम् ।
खड्गयुद्धनियुद्धेषु शीघ्रश्चंक्रमणक्षमम् ॥ ३२ ॥

हाथी, घोडे, रथकी सवारीकरनेमें शिक्षित दूसरे कार्योंमें अच्छो प्रकारसे शिक्षित, खड्गयुद्ध तथा दूसरे युद्धोंमें शीघ्रही विचरण करनेमें समर्थ ३२

युद्धभूमिविभागज्ञं सिंहवद्गूढविक्रमम् ।
अदीर्घसूत्रं निस्तन्द्रममर्षणमनुद्धतम् ॥ ३३ ॥

युद्धभूमिके विभागको जाननेवाले सिंहकी समान गूढ विक्रमी, दीर्घसूत्रतारहित, तन्द्रा, आलस्यहीन, अमर्षण [असहनशीलता] उद्धतपनसे रहित ॥ ३३ ॥

हस्त्यश्वरथशस्त्राणां सम्यग्लक्षणवेदिनम् ।
चरस्थिरविवेकज्ञं कृतज्ञमनुकल्पकम् ॥ ३४ ॥

हाथी, घोडे, रथ और शस्त्रोंके लक्षणको भलीप्रकार जाननेवाले, चर और अचर वस्तुके ज्ञाता, कृतज्ञ वस्तुकेही सदृश कार्यकुशल ॥ ३४ ॥

धर्मकर्मसमायोगं कुशलं कुशलानुगम् ।
सर्वयुद्धक्रियोपेतं शक्तं तत्परिकर्मणि ॥ ३५ ॥

धर्मकर्मके योगमें कुशल, कुशल पुरुषोंकेही अनुगामी, सब युद्धकी क्रियासे सम्पन्न और उस कर्ममें सब प्रकारसे समर्थ ॥ ३५ ॥

स्वभावचित्तज्ञतया युक्तमश्वनृदन्तिनाम् ।
तन्नाम्नाश्चापि वेत्तारं तद्विधानोपपादकम् ॥ ३६ ॥

घोडे, मनुष्य और हाथियोंके स्वभाव और चित्तका ज्ञान तथा उनके नामके भी जाननेवाले और उनके विधानके उपपादक ॥ ३६ ॥

देशभाषास्वभावज्ञं लिपिज्ञं सुदृढस्मृतिम् ।
निशाप्रचारकुशलं कुशलज्ञाननिश्चितम् ॥ ३७ ॥

देशभाषा स्वभावके ज्ञाता और उन भाषाओंके अक्षरोंके ज्ञाता, दृढस्मृतिवाले, रात्रिके विचरनेमें कुशल कुशलतापूर्वक ज्ञानमें निश्चय किये ॥ ३७ ॥

उदयास्तमयज्ञानं नक्षत्राणां ग्रहैः सह ।
दिग्देशमार्गविज्ञानसम्पन्नं तन्निषेवितम् ॥ ३८ ॥

नक्षत्र और ग्रहोंके उदय अस्तके ज्ञानवाले, दिशा, देश और मार्गके ज्ञानसे युक्त ॥ ३८ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमत्रासशीतवातोष्णवृष्टिभिः ।
अनाहितभयग्लानिं सत्पुंसामभयप्रदम् ॥ ३९ ॥

क्षुधा, पिपासा (प्यास) श्रम, त्रास, शीत, वात, गरमी, वर्षासे भय और ग्लानिको प्राप्त न होनेवाले, सत्पुरुषोंको अभय देनेवाले ॥ ३९ ॥

भेत्तारं परसैन्यानां दुःसाध्या हितनिश्चयम् ।
भयानाश्च स्वसैन्यानां सम्यग्विष्टम्भलक्षणम् ॥ ४० ॥

शत्रुओंकी सेनाके भेद करनेवाले और दूसरोंको दुःसाध्य, स्वामीका

निश्चय हितकरनेवाले, अपनी सेनाके भय और स्थिति तथा प्रतिबन्धके भलीप्रकार लक्षण जाननेवाले ॥ ४० ॥

अवस्कन्दाभिगोप्तारं भेत्तारं सैन्यकर्मणाम् ।
चरदूतप्रचारज्ञं महारम्भफलोपगम् ॥ ४१ ॥

छावनीकी रक्षा करनेवाले, सेनाके कर्मके भेदकरनेवाले चर तथा दूतके प्रचारके जाननेवाले, महारंभके फलके ज्ञाता ॥ ४१ ॥

शश्वत्संसिद्धिकर्माणं सिद्धिकर्मनिषेवितम् ।
परापरेषु निर्विण्णं श्रीमद्राज्यार्थतत्परम् ॥ ४२ ॥

निरन्तर सिद्धिकर्मके ज्ञाता, सिद्धिके कर्मोंसे सेवित, पर अपर पुरुषोंमें निर्विण्ण, और श्रीमहाराजाके अर्थसाधनमें तत्पर ॥ ४२ ॥

इत्यादिलक्षणोपेतं कुर्वीत ध्वजिनीपतिम् ।
ध्वजिनीश्च सदोद्युक्तः सङ्गोपयेद्दिवानिशम् ॥ ४३ ॥

इत्यादि लक्षणोंसे युक्त सेनापति करना चाहिये और सदा उद्योगको प्राप्तहुआ दिनरात सेनाको बड़े यत्नसे रक्षित करता रहै ॥ ४२ ॥

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत् ।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ४४ ॥

नदी, पर्वत, वन, दुर्गोंमें जहां जहां भयहो वहां वहां सेनापति अपनी सेनाको व्यूहित करके गमन करे ॥ ४४ ॥

नायकः पुरतो यायात् प्रवीरपृतनावृतः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु महद्धनम् ॥ ४५ ॥

बडी बलिष्ठ सेनासे युक्तहुआ लघुसेना नामक आगे २ गमन करे, बीचमें कलत्रवर्ग, स्वामी, कोष और सामान्य धन लेकर गमन करना चाहिये ॥ ४५ ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम् ॥ ४६ ॥

इसके दोनों दाहिने बायें भागमें घोडे और घोडोंके दाहिने बायें भागमें रथ, रथके पार्श्वभागमें हाथी और हाथियोंके पार्श्वभागमें अटवी (वनवासियों) की सेना चले ॥ ४६ ॥

पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम् ।
यायात्सम्बद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः॥४७॥

इन सबको ठीक करके पीछे सेनापति गमन करे और थकेहुओंको आश्वासन देताहुआ शनैः २ सेनासमूह लेकर स्वयम् गमन करे ॥ ४७ ॥

यायाद्व्यूहेन महता मकरेण पुरो भये ।
श्येनेनोभयपक्षेण सूच्या वा धीरचक्रया ॥ ४८ ॥

यदि आगे कुछ भय विदित हो तो मकरव्यूहका अवलम्बन करके गमनकरे, अर्थात् बड़े मकरके आकारवाली व्यूह रचना करके गमनकरे अथवा शिखरेके दोनोंपक्षके समान व्यूहसे अथवा बडी पैनी धारवाले सूचीव्यूहसे सेनापति गमन करे ॥ ४८ ॥

पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञितम् ।
सर्वतः सर्वतोभद्रं भयव्यूहं प्रकल्पयेत् ॥ ४९ ॥

यदि पीछे भय उपस्थित होय तो शकटके आकारवाले व्यूहसे गमनकरे, दोनों ओर भय हो तो वज्रव्यूहसे और चारोंओरसे भय हो तो सर्वतोभद्रव्यूहसे सेनाकी कवायदरचनासे गमनकरे ॥ ४९ ॥

कन्दराशैलगहननिम्नगावनसङ्कटे ।
दीर्घेऽध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहिमक्लमम् ॥ ५० ॥

कन्दरा, पर्वत, गहनवन, नदी स्थानमें यदि संकट उपस्थित होय वा दीर्घमार्ग चलनेसे थकीहुई क्षुधा, प्यास और शरदीसे व्याकुल ॥ ५० ॥

व्याधिदुर्भिक्षमरकैः पीडनं दस्युविद्रुतम् ।
पङ्कपांशुजलक्लिन्नं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि ॥ ५१ ॥

व्याधी, दुर्भिक्ष तथा मारकरोगसे पीडित, चोरोंके उपद्रवसे पीडित, कीच, धूल, जलकी अधिकाईसे व्याप्त, मार्गमें कीचादिकी अधिकाईसे व्याकुल, छिन्न भिन्न तथा एकत्रितहुई ॥ ५१ ॥

प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसंस्थितम् ।
चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहितम् ॥ ५२ ॥

सोतीहुई तथा भोजन करनेमें व्यग्रचित्त, अभूमिष्ठ पर्वतादिपर चढते-हुए, स्थिति न करतेहुए, तथा चोर अग्निके भयसे व्याकुल वर्षा और पवनसे आहत ॥ ५२ ॥

एवमादिषु जातेषु व्यसनेषु समाकुलम् ।
स्वसैन्यं साधु रक्षेत परसैन्यञ्च घातयेत् ॥ ५३ ॥

इत्यादि व्यसनोंसे व्याकुलहुई अपनी सेनाकी भलीप्रकारसे रक्षा करता हुआ शत्रुकी सेनाका संहार करै ॥ ५३ ॥

विशिष्टो देशकालाभ्यां भिन्नारिप्रकृतिर्बली ।
कुर्यात्प्रकाशयुद्धञ्च कूटयुद्धं विपर्यये ॥ ५४ ॥

जब देशकाल अपने अनुकूलहो और शत्रुकी प्रजा उससे विपरीत होजाय तब बलवान्को प्रकाश युद्ध करना चाहिये इसके विपरीत कूट युद्ध करै ॥ ५४ ॥

तेष्ववस्कन्दकालेषु परं हन्यात्समाकुलम् ।
अभूमिष्ठं स भूमिष्ठः स्वभूमौ चोपजायते ॥ ५५ ॥

उनके घेरेके समय व्याकुल हुए शत्रुको मारे, दूसरेकी भूमिमें प्राप्त अभूमिष्ठ कहाता है और अपने देशमें स्थित भूमिष्ठ कहाता है, यह अभू-मिष्ठको अपनी भूमिमें स्थित सहजमें ताडन करता है ॥ ५५ ॥

प्रकृतिप्रग्रहाहृष्टं स्पर्शैर्वनचरादिभिः ।
हन्यात्प्रवीरपुरुषैर्भङ्गदानापकर्षणैः ॥ ५६ ॥

प्रजाके निग्रहसे अप्रसन्नको वनचरादिके स्पर्श तथा वीर पुरुषों द्वारा भंग कराने, दान और अपकर्षणसे शत्रुको नष्ट करै ॥ ५६ ॥

पुरस्तु दर्शनं दत्त्वा तल्लक्ष्यकृतनिश्चयात् ।
हन्यात्पश्चात्सवीरेण बलेनोत्पद्य वेगिना ॥ ५७ ॥

उसके आगे दर्शन देकर और उसके लक्ष्यमें निश्चय होनेसे पीछेसे किसी वेगवान् बली वीरके द्वारा शत्रुपर प्रहार कराकर मारना चाहिये ५७

पश्चाद्वा सङ्कुलीकृत्य हन्यात्सारेण पूर्वतः ।
आभ्यां पार्श्वाभिघातौ तु व्याख्यातौ कूटयोधने ५८॥

अथवा पीछेसे कोलाहल करके चले, बलसे पूर्वकी ओरसे प्रहारकरे यह दोनों ओरसे पार्श्वका ताडन कपटयुद्धमें वर्णन किया है ॥ ५८ ॥

पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान् ।
जितमित्येव विश्वस्तं हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः॥ ५९ ॥

यदि आगे विषमदेश हो तो बड़े वेगसे पीछेसे ताडन करै और मेरी जीतहोगई इसप्रकार विश्वास पायेहुए शत्रुको आश्रयहीन कर नष्टकरै॥५९॥

स्कन्धावारपरग्रामप्रमास्यमानं व्रजादिषु ।
विलोभ्य तु परानीकमप्रमत्तोऽवनाशयेत् ॥ ६० ॥

छावनी, पुर, ग्राम, गोठ आदिमें स्थित हुई शत्रुसेनाको लोभित करके स्वयं सावधान होकर शत्रुसेनाको नष्ट करै ॥ ६० ॥

फल्गुसैन्यप्रतिच्छन्नं कृत्वा वा सारवद्बलम् ।
मर्दयन्तं तद्विलोपे ग्रसेदुत्पत्य सिंहवत् ॥६१ ॥

अपनी सारवाली सेनाको थोडी सेनासे प्रतिछन्न (अन्तरित) करके

जब उस थोडी सेनाको शत्रुमर्दन करनेलगै तब सिंहके समान कूदकर शत्रुको नष्ट करै ॥ ६१ ॥

मृगयासम्प्रयुक्तं वा हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः ।
अथवा गोग्रहाकृष्टचा तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ॥ ६२ ॥

अथवा मृगयामें आसक्त निराश्रय शत्रुपर प्रहारकरै, अथवा उसके मार्ग को जानकर गौकी समान उसको ग्रहण करनेको मार्गकी रोक करै ॥६२॥

अवस्कन्दभयाद्रात्रौ प्रजागरकृतश्रमम् ॥ ६३ ॥

घेरनेके भयसे जिसने रात्रिमें जागरण किया है और इसी कारण श्रम प्राप्त हुआ है ॥ ६३ ॥

अहसन्नाहतश्रान्तमपराह्ने विनाशयेत् ।
निशि विश्रम्भसंसुप्तं तत्सौप्तिकविधानवित् ॥ ६४ ॥

और जो युद्धमें तथा दिनमें श्रमसे थके हैं, उनका अपराह्न (तीसरे पहर) युद्धमें विनाश करे और जो रातको सुखसे शयन कर रहे हों उनके सौप्तिक विधान [सोते हुओंपर प्रहारकी रीति] से प्रहार करनेवाला॥६४॥

सपादकोशावरणैर्भागैः कुर्यात्तु सौप्तिकम् ।
कोपादुग्रजवोपेतैर्न रैर्वा खड्गपाणिभिः ॥ ६५ ॥

उन सोते हुओंको विभाग करके,चरण पर्यन्त भयंकर आवरण धारणकर जिससे राक्षसादिकी प्रतीतिहो वधकरै अथवा खड्गपाणि क्रोधसे महावेगको प्राप्त हुए पुरुषोंद्वारा ॥ ६५ ॥

प्रति सूर्यं महावातं हन्यात्संमीलितेक्षणम् ।
इत्येवं कूटयुद्धेन हन्याच्छत्रुं लघूत्थितः ॥ ६६ ॥

सूर्यके सन्मुख वा आँधीके सन्मुख मिची आँखोंवाली शत्रुसेनाका वध करावे इसप्रकार कूटयुद्धद्वारा किंचित् श्रमसेही शत्रुका वधकरै ॥ ६६ ॥

नीहारस्तिमिरं गावः स्वभ्राद्रिवननिम्नगाः ।
वदन्ति शत्रुमित्यादि छत्रं सप्त प्रकीर्त्तितम् ॥ ६७ ॥

कुहरा अंधकार, गौ [गौओंके भागनेसे उठी धूरि] मेघ, पर्वत, वन और नदी यह सातप्रकारका शत्रुरूप छत्रका अर्थात् घेराहै इसको जानै ६७

साधुप्रवृत्तो व्यवसायवर्त्ती यानप्रकारेण परन्निहन्यात् ।
चरैः समावेदिततत्प्रचारः शङ्केत तेनैव ततोऽप्रमत्तः॥६८॥

भलीप्रकारसे प्रवृत्तिवाला, उद्योगशीलराजा, इस चढाईके प्रकारको अवलम्बन करके शत्रुको मारै, और दूतोंसे भलीप्रकार उसकी गति जानकर सावधान हुआ शत्रुसे शंकित रहै ॥ ६८ ॥

नियतमिति निहन्यात्कटयुद्धेषु शत्रुं
न हि निरयति धर्मच्छद्मना शत्रुनाशः ।
अचकितमिव सुप्तं पाण्डवानामनीकं
निशि सुनिशितशस्त्रो द्रोणसूनुर्जघान ॥ ६९ ॥

इसप्रकार कूटयुद्धसे शत्रुका निश्चित वधकरै, इसप्रकार शत्रुनाशसे भी अधर्म वा नरक नहीं होता । देखो विश्वासपूर्वक सोईहुई पाण्डवोंकी सेनाको भारतमें शस्त्र लेकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने मारडाला था ॥६९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सैन्यबलाबलं सेनापतिप्रचारः प्रयाणव्यसनरक्षणं कटयूद्धविकल्पश्च अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सैन्यबलाबलं सेनापति प्रचारः प्रयाण व्यसनरक्षणं कुटयुद्ध विकल्पश्च अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

ऊनविंशः सर्गः १९.

प्रयाणे पूर्वजापित्वं वनदुर्गप्रवेशनम् ।
अकृतानाञ्च मार्गाणां तीर्थानाञ्च प्रवर्त्तनम् ॥ १ ॥

गमनमें प्रथम सम्मति कर अग्रगामी होना, वन और दुर्गमस्थलमें प्रवेश करजाना जहां मार्ग नहीं है वहां मार्ग कर देना, नदी समूहोंके घाट उतरने लायक कर देना ॥ १ ॥

तोयावतारसन्तारावेकाङ्गविजयस्तथा ।
अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्नसंग्रहः ॥ २ ॥

जलोंमें अवगाहन पारगमनका मार्ग करना एकही अंगसे विजय देना, संघट्ट हुई सेनाको छिन्न भिन्न कर देना, तथा छिन्न भिन्न हुई सेनाको घेरकर इकट्ठी कर देना ॥ २ ॥

विभीषिकाविघातश्च प्राकारद्वारभञ्जनम् ।
कोषनीतिभयत्राणं हस्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ३ ॥

प्राप्त हुए भयका निवारण करना, परिखा और द्वारका तोड देना, कोप नीतिके भयसे रक्षाकरना यह हाथियोंका कार्य कहा है ॥ ३ ॥

वनदिङ्मार्गप्रचयो वीवधासाररक्षणम् ।
अनुयानापसरणे शीघ्रं कार्योपपादनम् ॥ ४ ॥

वन दिशा मार्गकी खोजा भारढोनेकी वहिंगीसेना और धान्यकी रक्षा अपसरणमें पीछे गमन शीघ्रकार्यका सम्पादन करना ॥ ४ ॥

दीनानुसरणञ्चैव कोटीनां जघनस्य च ।
इत्यश्वकर्म पत्तेश्च सर्वदा शस्त्रधारणम् ॥ ५ ॥

भीत हुएकी रक्षा, शस्त्रके सन्मुख गमन, वक्रगतिसे प्रहार यह सब अश्व अर्थात् घोडेके कर्म हैं, और सदा शस्त्रका धारण करना यह पैदल सैनिकोंका कर्म है ॥ ५ ॥

शोधनं कूपतीर्थानां मार्गाणां शिबिरस्य च ।
यवसादि च यत्किञ्चिद्विज्ञेयं विश्वकर्मवत् ॥ ६ ॥

कूप और तीर्थ स्थानोंका शोधन करना मार्ग और छावनियोंका शोध और जो कुछ सब जो धान्य आदिकी सामग्री है उसको भलीप्रकार विश्वकर्मकी समान ज्ञानमें रखना ॥ ६ ॥

जातिस्थानं वयःस्थानं प्राणिनां मर्मवेदिता ।
तेजः शिल्पं शीघ्रगत्वं स्थैर्यं साधुविधेयिता ॥ ७ ॥

जातिस्थान, अवस्थास्थान, प्राणियोंके मर्मका ज्ञान, तेज कारीगरी कौशल शीघ्रगति, स्थिरता, साधुतापूर्वक वा भलीप्रकार कार्यका विधान ॥७॥

स्वव्यञ्जनाचारवतां पत्त्यश्वरथवाजिनाम् ।
इति लक्षणमेतेन युक्तान्कर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

अपने प्रगट कार्यमें आचारवाले, पैदल, अश्व, रथ, आरोहियोंके यह लक्षण हैं, इनको यथा योग्य अपने २ कार्योंमें नियुक्त करै ॥ ८ ॥

सस्थूणच्छिन्नवल्मीकवृक्षगुल्मापकण्टका ।
सापसारा पदातीनां भूर्नैव विषमा मता ॥ ९ ॥

पैदलोंके निमित्त ठूंठ, छिन्न, बँबईवाली, वृक्ष गुल्म लता काँटोंसे संकीर्ण तथा विषम ऊँची नीची भूमि विचरण करनेके योग्य नहीं है ॥९॥

अल्पवृक्षोपला छिद्रा लतिका विदरा स्थिरा ।
निःशर्करा च निष्पङ्का सापसारा च वाजिभूः॥ १०॥

थोडेवृक्ष और पाषाणवाली, अल्पछिद्र और लतावाली, दरार रहित, स्थिर, कंकररहित कीच और दल दलसे हीन भूमि, घोडोंके विचरण करने योग्य होतीहै ॥ १० ॥

निःस्थाणुसिकतापङ्का निर्वल्मीकोपलासना ।
केदारव्रततिश्वभ्रवृक्षगुल्मादिवर्जिता ॥ ११ ॥

स्थाणु, रेता, कीच, बाँबी, पाषाण, विजयसार, खेत, लतासमूह, पृथिवीका पोलापन, वृक्ष गुल्म, इत्यादिसे रहित ॥ ११ ॥

निरुद्याना निर्दरणा खुरचंक्रमणक्षमा ।
सर्वप्रचारयोग्या च रथभूः सम्प्रकीर्त्तिता ॥ १२ ॥

उद्यान बगीचे और दरारोंसे रहित, घोडोंके खुर रखनेमें समर्थ सब जगह आने जानेके योग्य भूमि रथके प्रचरण करनेके योग्य कही गई है॥१२॥

रथानां वाजिनां भूमिः स्थिरा सर्वत्र हस्तिनाम् ।
न हयस्थानभूरेषा न नागानां विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

रथ घोडे और हाथियोंके भूमिकी सर्वत्र स्थिरता होनी चाहिये और दरारयुक्त तथा पोली भूमि हाथी घोडोंके योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

मर्दनीयतरुच्छेद्यव्रततिः पङ्कवर्जिता ।
उर्वरा गम्यशैला च विषमा गजमेदिनी ॥ १४ ॥

मर्दन करने तथा तोडने योग्य वृक्षोंसे संकीर्ण, शस्ययुक्त गम्य पर्वतोंवाली विषम ऊँची नीची भूमि हाथियोंके प्रचार योग्य होतीहै ॥ १४ ॥

जयार्थी नैव युध्येत मतिमानप्रतिग्रहः ।
युध्येतावश्यकत्वाद्वा तदातिबलवेष्टितः ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् जयशील प्रतिग्रहकी इच्छा न करनेवाला प्रथम तो युद्धही न करै, और जो आवश्यकता पडनेसे युद्ध करे तो अतिसेना सम्पन्न हो युद्ध करै ॥ १५ ॥

गजेष्वारोपितः साधु शीघ्रयानैरधिष्ठितः ।
यत्र राजा तत्र कोषः कोषाधीना हि राजता ॥ १६ ॥

शीघ्रगामी सवारी वा हाथीपर खजाना रखना चाहिये, जहां राजाहो वहीं खजाना स्थापितकरै. कारण कि, राजापन कोषकेही अधीनहै ॥१६॥

प्रत्यग्रे कर्मणि कृते श्लाघ्यमानः कृतादरः ।
योधेभ्यस्तु ततो दद्यात्को हि दातुर्न युध्यते॥ १७ ॥

जो सबसे आगे कर्म करे उसकी प्रशंसा और आदरकरे, और उसी समय युद्धकरनेवालोंको दानदे. कारण कि, दान शीलके लिये कौन युद्ध नहीं करताहै ॥ १७ ॥

दद्यात्प्रहृष्टो नियुतं वर्णानां राजघातिने ।
तदर्द्धन्तत्सुतवधे सेनापतिवधे तथा ॥ १८ ॥

राजाके मारनेवालेको एक लक्षदे उसके पुत्र और सेनापतिके मारनेवालेको इससे आधादे ॥ १८ ॥

प्रवीराणां तु मुख्यस्य शतं शतगुणं वधे ॥ १९ ॥

तथा मुख्य वीरके मारनेवालेको दश सहस्र ॥ १९ ॥

तदर्धं कुञ्जरवधे प्रदानं स्यन्दनस्य च ।
सहस्रञ्च चापिवधे पत्तिमुख्यवधे स्मृतम् ॥ २० ॥

मुख्य हस्त्यारोहीके मारनेमें तथा रथीके मारनेमें ५०००सहस्र मुद्रादे और मुख्य पैदलके मारनेमें एक सहस्र पुरस्कारदे ॥ २० ॥

गवां विंशतिकं सर्वं भोगाद्वैगुण्यमेव च ।
गुण्यं हेम च कुप्यञ्च यो यज्जयति तस्य तत् ॥२१॥

शत्रुकी गौवे हरण करनेवालेको २० मुद्रा पुरस्कारदे, और शत्रुको उसके भोगसे रहित करदे, वा भोग्य वस्तु जो शत्रुकी हो उससे लेकर अपनी सेनाको दे, सुवर्ण सूत्र तोड़ा सुवर्ण भूषण तथा सुवर्णसे भिन्न चांदी ताम्रादिकी मुद्रा जो जिसको जीते वह उसीकी होती है ॥ २१ ॥

दद्याद्वस्त्वनुरूपं हि हृष्टो योधान्नराधिपः ।
पश्चात्तद्विधमुत्सर्पन्स्थापयेद्वलिनं युधि ॥ २२ ॥

इसप्रकार राजा प्रसन्न होकर वस्तुके समानही पुरस्कार दे, पीछे उसी प्रकार चलता हुआ युद्धमें बलिष्ठ सेनाको स्थापन करै ॥ २२ ॥

त्रिगुणाश्वौ रथगजौ योज्यौ पञ्चसु पञ्चसु ।
समान्तरश्च पुरुषस्तुरङ्गस्त्रिसमान्तरः ॥ २३ ॥

पाँच २ पैदलोंके साथ तीन तीन सवार एक २ रथ और एक २ हाथी नियत करना चाहिये, इसका नाम एकपति है. इसप्रकार पुरुष जो युद्धके निमित्त स्थितहों वह समान्तरहों अर्थात् उनमें एक पुरुषके रहने लायक जगह रहनी चाहिये, और जहां सवार युद्धको खड़े हों तो घोडोंके मध्यमें तीन पुरुषोंका अन्तर होना चाहिये ॥ २३ ॥

कुञ्जरः स्यन्दनश्चैव स्मृतौ पञ्च समान्तरौ ।
सर्वनीतिविदामेतत्सम्मतं परिकीर्त्तितम् ॥ २४ ॥

तथा हाथी और रथोंको पाँच २ पुरुषोंका अन्तर देकर खड़ा करना चाहिये, सम्पूर्ण नीति जाननेवालोंकी यह सम्मति है ॥ २४ ॥

तथा च खलु युध्येरन्पत्त्यश्वरथदन्तिनः ।
यथा भवेदसम्बाधो व्यायामो विनिवर्त्तते ॥ २५ ॥

पैदल घोडे रथ हाथी यह सब इसप्रकारसे युद्ध करैं कि, जिससे उनके लौटने और इधर उधर फिरनेमें विघ्न न पडे अर्थात् वे परस्पर भिड न जाय ॥ २५ ॥

सङ्करेण च युध्येरन्सङ्करः सङ्कुलावहः ।
महासङ्कुलयुद्धे तु संश्रयेरन्महाकुलान् ॥ २६ ॥

रथी, पैदल हस्त्यारोही घुडसवार जब मिलकर युद्ध करैं तो वह संकुल युद्ध होजाताहै, और जब यह महा मिश्रित होजाँय तो महासंकुल युद्धमें महाकुलीन धोखा न देनेवालोंका आश्रय ले ॥ २६ ॥

अवश्यं प्रतियोद्धारो भवेयुः पुरुषास्त्रयः ।
इति कल्पास्तु पञ्चाश्वा विधेयाः कुञ्जरस्य च॥२७॥

यदि पत्तियोंमें रथी युद्ध न करे तो तीन सवार पुरुष युद्ध करनेवालों के साथ प्रतियुद्ध अवश्य करैं, यह कल्प पाच घोडोंका बनताहै, जैसे एक रथके दो घोडे तीन सवारोंके तीन घोडे इसप्रकार प्रति प्रति पांच २ घोडेकी भी होती है, इसी भाँति प्रत्येक हाथीके साथ पांच २ घोडे होते हैं २७

पादशो भावयेदश्वपुरुषा दश पञ्च च ।
विधानमिति नागस्य कथितं स्यन्दनस्य च ॥ २८ ॥

और इस पत्तिमें दशपुरुष, अर्थात् पांच पदाति, ३ तीन सवार, २ रथी, १ हस्त्यारोही, रथ, हाथीको छोडकर घोडे और पुरुष पन्द्रह होते हैं यही रथ और हाथीके साथभी इसी भाँति लगाना चाहिये, भारतादि ग्रन्थोंमें इसका विशेष वर्णन है ॥ २८ ॥

तथानीकस्य रंध्रं तु पञ्चचापं प्रचक्षते ।
सर्वव्यूहविधानज्ञा युद्धकर्मसु कर्मणः ॥ २९ ॥

पांच धनुष पर्यन्त सेनाका सैनिकोंसे अवकाश रहना चाहिये, सब प्रकारकी व्यूह रचनाके जनानेवाले व्यूह कर्ममें विधान जाननेवाले तथा युद्ध कर्ममें कुशल पुरुष ऐसा कहते हैं ॥ २९ ॥

उरःकक्षे च पक्षौ च मध्यं पृष्ठं प्रतिग्रहः ।
कोटी च व्यूहशास्त्रज्ञैः सप्ताङ्गो व्यूह इष्यते ॥ ३० ॥

हृदय, दोनों कोख, दोनों पक्ष, मध्यस्थान, पृष्ठभाग, प्रतिग्रह और कोठी यह सात अंगव्यूहके व्यूह शास्त्रके ज्ञाताओंने कहेहैं ॥ ३० ॥

उरश्च कक्षपक्षौ च व्यूहोऽयं सप्रतिग्रहः ।
गुरोरेष च शक्रस्य कक्षाभ्यां परिवर्जितः ॥ ३१ ॥

छाती, कक्ष पक्ष सम्पन्न यह प्रतिग्रह सहित व्यूह कहाहै, और शुक्राचार्यने यही व्यूह कक्ष (कोख) से रहित वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

अभेद्याः कुलजा मेध्या लब्धलक्ष्याः प्रहारिणः ।
सेनाङ्गपतयः कार्या दृष्टयुद्धप्रतिक्रियाः ॥ ३२ ॥

किसी प्रकारसे भेदको न प्राप्त होनेवाले कुलीन पवित्र लक्ष्यभेदमें कुशलप्रहारके करनेवाले अनेक बार युद्धके देखे हुए छोटे २ सेनापति करने चाहिये ॥ ३२ ॥

प्रवीरपुरुषैरेतैस्तिष्ठेयुः परिवारिताः ।
अभेदेन च युद्धयेरन्रक्षेयुश्च परस्परम् ॥ ३३ ॥

और इन सेनापतियोंके समीप मुख्य २ वीरगण स्थित रहैं, यह सब मिलकर युद्ध करैं, और परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करै ॥ ३३ ॥

फल्गु सैन्यस्य यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य तद्भवेत् ।
युद्धवस्तु च यत्किञ्चित्प्रायस्तज्जघने भवेत् ॥ ३४ ॥

जो कुछ सामान्य थोडीसी सेनाहो वह व्यूहके मध्यदेशमें रखनी चाहिये, और जो कुछ युद्धकी वस्तु है वह जघन स्थानमें स्थापित करै ३४

युद्धार्थं युद्धकुशलं चण्डानीकं प्रयोजयेत् ।
युद्धं हि नायकप्राणं हन्यते तदनायकम् ॥ ३५ ॥

और युद्धके निमित्त युद्ध कुशल प्रचण्ड सेनाको प्रयुक्त करै, युद्धमें सेनानायकही प्राण है, विना सेनापतिके सेना नष्ट होती है ॥ ३५ ॥

व्यूहोऽनुपृष्ठमचलः पत्त्यश्वरथदन्तिभिः ।
तथाप्रतिहतो ज्ञेयो हस्त्यश्वरथपत्तिभिः ॥ ३६ ॥

पैदल घोडे सवार हाथियोंके सवार तथा रथियोंसे व्यूह दृढ पृष्ठ और अचल कहाता है, और हाथी, घोडे रथ पैदलोंसे सुसम्पन्न होनेसे सेना अप्रतिहत (पराजयके अयोग्य) होती है ॥ ३६ ॥

मध्ये देशे हयानीकं रथानीकं तु कक्षयोः ।
पक्षयोश्च गजानीकं व्यूहोन्तभिदयं स्मृतः ॥ ३७ ॥

व्यूहके मध्यभागमें घोडोंकी सेना दोनों कक्षस्थानोंमें रथियोंकी सेना दोनों पक्षोंमें हाथियोंकी सेना होनेसे यह व्यूह अन्तर्भिद् कहाता है ३७॥

रथस्थाने हयान्दद्यात्पदातींश्च हयाश्रये ।
रथाभावे तु मतिमान्नागानेव प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥

रथके स्थानमें घोडोंको स्थापित करै, और घोडोंके स्थानमें पैदलोंको स्थापित करै, अथवा रथोंके अभावमें बुद्धिमान् हाथियोंको नियुक्त करै ॥ ३८ ॥

विभज्य प्रक्षिपेन्मध्ये पत्त्यश्वरथकुञ्जरान् ।
मध्ये कुर्वीत नागेन्द्रान्पत्त्यश्वरथवारितान् ॥ ३९ ॥

इसप्रकार पैदल रथी घुडसवार हस्त्यारोही जनोंका विभाग करके मध्यमें स्थापन करै, और रथी घुड़सवार तथा पैदलोंसे घेरेहुए गजेन्द्रोंको मध्यमें स्थापित करै ॥ ३९ ॥

धनुःसूची च दण्डश्च शकटो मकरध्वजः ।
इत्यादयो महाव्यूहास्तदाकारान्प्रकल्पयेत् ॥ ४० ॥

धनुष सूची, दण्ड, शकट, मकरध्वज यह नामवाले महाव्यूह इन्हीं वस्तुओंके यह महाव्यूह कहातेहैं, जो शब्दार्थ है उसीके आकार व्यूह कल्पना करनी चाहिये ॥ ४० ॥

यदि स्याद्दण्डबाहुल्यं तदा चापः प्रकीर्त्तितः ।
मण्डलोऽसंहतो भोगो दण्डश्चेति मनीषिभिः ॥ ४१ ॥

दण्डव्यूह अधिक हो तो यह चापव्यूह कहाताहै,मण्डल, असंहत, भोग और दण्ड बुद्धिमानोंने ॥ ४१ ॥

कथिताःप्रकृतिव्यूहा भेदास्तेषां प्रकीर्त्तिताः ।
यःस तं व्यूह्य मतिमान्काले स्थाने प्रकल्पयेत्॥ ४२॥

यह प्रकृति व्यूह कहे हैं, और इनकें भेद भी कहेहैं इनमेंसे बुद्धिमान् देशकालानुसार व्यूहोंकी कल्पना करे ॥ ४२ ॥

तिर्यग्वृत्तिश्च दण्डः स्याद्भोगत्वाद्वृत्तिरेव च ।
प्रदरो दृढकोऽसह्यश्चापो वै तद्विपर्ययः ॥ ४३ ॥

तिर्यग्वृत्तिवाला दण्डव्यूह है, भोगत्व होनेसे वृत्ति [प्रवृत्ति अर्थात् तिरछे गमन] होतीहै प्रदर, दृढक, असह्य यह इस दण्डव्यूहके भेद हैं, चापव्यूह इससे विपरीत होताहै, तिर्यग्वृत्ति नहीं होता "आगे सेनाध्यक्ष, मध्यमें राजा, पीछे सेनापति, दोनों पार्श्व भागमें हाथी, उसके समीपमें घुडसवार, पीछे पैदल ऐसी रचनावाला दण्डाकार दण्डव्यूह कहाता है" ॥ ४३ ॥

प्रतिष्ठः सुप्रतिष्ठश्च श्येनो विजयसञ्जयौ ।
विशालविजयः सूची स्थूणाकर्णश्चमूमुखः ॥ ४४ ॥

प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ, श्येन, विजय, संजय, विशालविजय, सूची, स्थूणाकर्ण चमूमुख ॥ ४४ ॥

सुखाख्यो वलयश्चैव दण्डभेदाः सुदुर्जयाः ।
अतिक्रान्तः प्रतिक्रान्तः कक्षाभ्याञ्चैकपक्षतः॥ ४५॥
अतिक्रान्तश्च पक्षाभ्यां त्रयोऽन्यस्तु विपर्ययः ।
स्थूणापक्षो धनुःपक्षो द्विस्थूणो दण्ड ऊर्ध्वगः॥ ४६॥

सुख तथा वलय यह दुर्जय दण्डव्यूहके भेदहैं, भोगव्यूहके भेद कहते हैं, अतिक्रान्त दोनोंपक्षोंसे आगेको बढा हुआ प्रतिक्रान्त, इसके विपरीत पक्ष पीछे छातीका भाग आगेको बढाहुआ (जैसे पक्षी बैठताहै) अन्य इसके विपरीत एक पक्ष आगेको बढा हुआ इसप्रकार यह तीन भेदहैं

स्थूणापक्ष "स्थूणके आकार पक्षवाला" धनुःपक्ष "धनुषकेसे पंखोंवाला" द्विस्थूण "दोस्थूणकी समान पक्षवाला" दण्डः 'दण्डके आकार पक्षवाला' तथा ऊर्ध्वग ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

द्विगुणान्तस्त्वतिक्रान्तपक्षोऽन्योऽस्य विपर्ययः ।
द्विचतुर्दण्ड इत्येवं ज्ञेयो लक्षणतः क्रमात् ॥ ४७ ॥

अतिक्रान्तपक्ष द्विगुणान्त होताहै अन्य इसके विपरीत होगा वह चाहे द्विचतुरदण्डहो यह क्रमसें लक्षणपूर्वक द्विदण्ड, चतुर्दण्ड संज्ञावाला जानना ॥ ४७ ॥

गोमूत्रिकाऽहिसञ्चारी शकटो मकरस्तथा ।
भोगभेदाः सामाख्यातास्तथा परिपतन्तकः ॥ ४८ ॥

गोमूत्रिका अहिसंचारी शकट और मकर यह भोगव्यूहके भेदहैं तथा परिपतन्तक भी इसीके भेदहैं, शकटके आकारका शकट और मकरके आकारका मकरव्यूह होताहै ॥ ४८ ॥

दण्डपक्षो युगोरस्यः शकटस्तद्विपर्ययः ।
मकरो व्यवकीर्णश्च शेषः कुञ्जरराजिभिः ॥ ४९ ॥

युगहै उरस्यभाग जिसमें ऐसा शकटव्यूह होताहै, दण्डपक्ष परिपतन्तक होताहै, दण्डपक्षका युगोरस्य शकट विपर्ययहै, शेष मकरव्यूह हाथियोंकी पंक्तिसे मकराकार फैलाहुआ होताहै ॥ ४९ ॥

मण्डलव्यूहभेदौ च सर्वतोभद्रदुर्जयौ ।
गजानीको द्वितीयस्तु प्रथमः सर्वतोमुखः ॥ ५० ॥

सर्वतोभद्र और दुर्जय मण्डलव्यूहके भेदहैं दुर्जयमें हाथीकी सेना होतीहै सर्वतोभद्रमें सेनाका सब ओरको मुख होताहै ॥ ५० ॥

अर्द्धचन्द्रक उद्धारो वज्रो भेदास्त्वसंहतेः ।
तथा कर्कुटशृङ्गी च काकपादी च गोधिका ॥५१॥

अर्द्धचन्द्र [अर्धचन्द्राकार सेना] उद्धार और वज्र यह असंहतके भेदहैं, कुक्कुटशृंगी काकपादी [काकके चरणाकार] गोधिका [गोयके आकार] यह इसीके भेद हैं ॥ ५१ ॥

त्रिचतुःपञ्चसैन्यानां ज्ञेया आकारभेदतः ।
इति व्यूहाः समाख्याता व्यूहभेदप्रयोक्तृभिः ॥५२ ॥

आकारभेदसे कुक्कुटशृंगी ३ सेनाका, काकपादी चारका और गोधिकाव्यूह पांच सेनाओंका आकारभेदसे जानना यह व्यूहके जाननेवालोंने व्यूहभेद कहेहैं ॥ ५२ ॥

एते सप्तदश प्रोक्ता दण्डव्यूहाश्च पञ्चधा ।
तथा व्यूहद्वयञ्चैव मण्डलस्य प्रयोक्तृभिः ॥ ५३ ॥

यह सब भेद सत्रह प्रकारके हैं चापसहित पांच प्रकारका दण्डव्यूह दो प्रकारका मंडलव्यूह * अर्धचन्द्रसे गोधिका तक छःप्रकारका असंहतव्यूह ॥ ५३ ॥

असंहतास्तु षड्व्यूहा भोगव्यूहाश्च पञ्चधा ।
व्यूहज्ञैस्तु प्रयोज्याः स्युर्युद्धकाल उपस्थिते ॥ ५४ ॥

गोमूत्रिकादि पांच प्रकारके भोग व्यूहहैं व्यूहके जाननेवालोंको युद्धके समय इनका प्रयोग करना चाहिये । विशेष विवरण सूक्ष्मग्रीव, मध्यमपुच्छ मोटे पक्षवाला क्रौंचव्यूह होता है । बडे पक्षवाला गले और पूँछमें मध्यम सूक्ष्म मुख श्येनयूह कहाताहै, चौपायेके समान लम्बे आकारवाला, स्थूलमुख, दो ओष्ठसंयुक्त मकरव्यूह होता है, सूक्ष्ममुख, लम्बाईमें समान विस्तारवाला बीचमें खाली सूचीव्यूह कहाताहै जिसका एक मार्ग हो आठकुंडली हों उसे चक्रव्यूह कहते हैं, चारों दिशाओंमें जिसकी आठ परिधी हों उसे सर्वतोभद्रव्यूह कहते हैं, जिसका

* इन दोका एकही ग्रहण किया है ।

आकार छकड़ेके समान हो उसे शकटव्यूह सर्पके समान आकारवाला व्यालव्यूह कहाता है ॥ ५४ ॥

पक्षादीनामनीकेन हत्वा शेषं परिक्षिपेत् ।
तरसा च समाहत्य कोटिभ्यां परिवेष्टयन् ॥ ५५ ॥

अपनी सेनासे शत्रुके व्यूहके पक्षादिका संहार करके शेष सेनापर प्रहार करै और बडे वेगसे शत्रुसेनाकी कोटि (अग्रभाग) को घेरकर ताड़ित करै ॥ ५५ ॥

परकोटिमुपक्रम्य पक्षाभ्यामप्रतिग्रहः ।
कोटिभ्यां जघने हन्यादुरसा च प्रपीडयेत् ॥ ५६ ॥

अपनी सेनाके दोनों पक्षोंसे अप्रतिगृहीत होकर शत्रुकी सेनाकी कोट को आक्रमण करके अपनी कोटियोंसे शत्रुसेनाके जघन देशमें प्रहार करके अपनी सेनाके उरस्थल भागसे उसको पीड़ित करै ॥ ५६ ॥

एवं व्यूहप्रयत्नेन यत्नवानवनीपतिः ।
विदारयेद्व्यूहजातं बलैश्च द्विषताम्बलम् ॥ ५७ ॥

इसप्रकार राजा व्यूहके प्रयत्नसे यत्न करताहुआ अपनी महान् सेनासे शत्रुके व्यूह और दलको विदीर्ण करै ॥ ५७ ॥

यतः फल्गु यतोऽभिन्नं यतो दुष्टैरधिष्ठितम् ।
ततो रिपुबलं हन्यादात्मानं चापि बृंहयेत् ॥ ५८ ॥

जिस समय शत्रुकी सेना थोड़ी हो वा मध्यम हो वा संघट्टको प्राप्त हुई हो, या दुष्टोंसे अधिष्ठित हो उस समय अपनी वृद्धि करताहुआ शत्रुकी सेनाको नष्ट करै ॥ ५८ ॥

अरिं द्विगुणसारेण फल्गुसारेण पीडयेत् ।
संहतं च गजानीकैः प्रचण्डैरेव वारयेत् ॥ ५९ ॥

शत्रुको द्विगुने बलसे थोड़े बलसे पीडित करै, और संहति समूहको प्राप्त हुए शत्रुको प्रचण्ड हाथियोंकी सेनासे निवारण करै ॥ ५९ ॥

दुर्जयान्करिणः सिंहवसासिक्तैर्महागजैः ।
आहन्यात्करिणां वाथ समूहैःसाध्वधिष्ठितैः ॥६०॥

सिंहकी चरबीसे अनुलिप्त महागजेन्द्रोंके समूहों पर स्थित योधाओं-द्वारा शत्रुको मारै, तथा उसकी चतुरंगिनी सेनाको नष्ट करै। कारण कि, हाथी दुर्जय होतेहैं, इससे वा भलीप्रकार हस्त्यारोही और हाथियोंद्वाराही मर्दित होते हैं ॥ ६० ॥

सलोहजालैर्दृढबद्धदन्तैः सुकल्पितैरूर्जितपादरक्षैः ।
प्रवीरयोधैर्मददुर्निवारैर्हन्याद्गजेन्द्रैर्द्विषतामनीकम्६१॥

लोहजालसे जिनके दाँत दृढतासे बँधेहुए हैं, और जिनके चरणोंकी रक्षा बहुत उत्तम रीतिसे की गई है, और जिनके गण्डस्थलसे मद चूरहाहै, ऐसे गजेन्द्र और महाबली योधाओंसे शत्रुकी सेनाको नष्ट करै ॥ ६१ ॥

एकोऽपि वारणपतिर्द्विषतामनीकं
व्यक्तन्निहन्ति मदसत्त्वगुणोपपन्नः ।
नागेषु हि क्षितिभुजां विजयो निबद्ध-
स्तस्माद्गजाधिकबलो नृपतिः सदा स्यात् ॥ ६२ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे गजाश्वपत्तिकर्मणि पदातिरथहस्तिभूमयो यानकल्पना व्यूहकल्पना प्रकाशयुद्ध वर्णनं नामोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

मद और सत्वगुण सम्पन्न एकही गजराज अपने आरोही सहित निश्चयही शत्रुसेनाका संहार करता है । विशेष कहांतक कहैं, राजाओंकी विजय हाथियोंकेही अधीन है इससे राजाको हाथियोंका बल विशेष संग्रह करना चाहिये ॥ ६२ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे मुरादाबादनिवासी पंडितज्वाला-
प्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां गजाश्वपत्तिकर्मणि
पदातिरथ हस्तिभूमयो यानकल्पना व्यूह-
कल्पनाप्रकाशयुद्ध वर्णनं नामोन
विंशः सर्गः ॥ १९ ॥

समाप्तश्चायं कामन्दकीयनीतिसारः ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. 2913

दोहा ।

श्रीरघुपतिके चरणयुग, प्रेमसहित हियलाय ।
नीतिसार कामन्दकी, भाषा लिखी बनाय ॥ १ ॥
पढहि याहि मनलाय जो, वर्तहिं इहि अनुसार ।
राजकाज अरु लोकमें, नित्य होय जयकार ॥ २ ॥
सम्वतुनभरसग्रहविधु, पौषकृष्ण गुरुवार ।
चतुर्दशी शिवतुष्टिकर, पूर्णभयो नयसार ॥ ३ ॥
वसत रामगंगानिकट, नगर मुरादावाद ।
भजन करत हरिको तहां, बुध ज्वालाप्रसाद ॥ ४ ॥
नितप्रति सुमिरहु रामको, जपहु निरन्तर राम ।
तिनकी कृपाकटाक्षसे, सिद्धहोत सब काम ॥ ५ ॥

॥ शुभमस्तु ॥

पुस्तकोंके मिलनेका ठिकाना–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस, खेतवाड़ी–बंबई.

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI.
Acc. No. 2913

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) यन्त्रालयकी परमो-
पयोगी स्वच्छ शुद्ध और सस्ती पुस्तकें।

यह विषय आज २५।३० वर्षसे अधिक हुआ भारतवर्षमें घर २ गाँव २ प्रसिद्धहै कि, इस यन्त्रालयकी छपी हुई पुस्तकें सर्वोत्तम और सुन्दर प्रतीत तथा प्रमाणित हुई हैं सो इस यन्त्रालयमें प्रत्येक विषयकी पुस्तकें जैसे-वैदिक, वेदान्त, पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, छन्द, ज्योतिष, काव्य, अलंकार चम्पू, नाटक, कोष, वैद्यक, साम्प्रदायिक तथा स्तोत्रादि संस्कृत और हिन्दी भाषाके प्रत्येक अवसरपर बिक्रीके अर्थ तैयार रहतेहें। शुद्धता स्वच्छता तथा कागजकी उत्तमता और जिल्दकी बँधाई देशभरमें विख्यात है। इतना उत्तमता होनेपर भी दाम बहुतही सस्ते रक्खे गये हैं और कमीशनभी पृथक् काट दियाजाता है। ऐसी सरलता पाठकोंको मिलना असंभवहै संस्कृत तथा हिन्दीके रसिकोंको अवश्य अपनी २ आवश्यकतानुसार पुस्तकोंके मँगानेमें त्रुटि न करना चाहिये. ऐसा उत्तम, सस्ता और शुद्ध माल दूसरी जगह मिलना असम्भव है 'सूचीपत्र' मँगा देखो॥

KHEMRAJ SHRIKRISHNADAS,
Shri Venkateshwar Steam Press, BOMBAY.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना-खेतवाड़ी-बंबई.